इतिहास और आलोचना

नामवर सिंह

सत्-साहित्य-प्रकाशन, बनारस

इतिहास और आलोचना

नामवर सिंह

•

अनुक्रम

व्यापकता और गहराई •

अक्सर देखते हैं कि पानी के सोते की तरह लेखक भी साफ होता है तो उथला कहा जाता है और गदला होता है तो गहरा। इसका ताजा नमूना यह है कि 'आलोचना' के संपादक अपने को गहरा बता रहे हैं और प्रेमचन्द को सतही। प्रेमचन्द का दोष यह है कि उन्होंने समस्याओं का 'सरल समाधान' दिया है। परन्तु इसी 'सरल समाधान' पर गहरे समझे जाने वाले उपन्यासकार जैनेन्द्र कुमार मुग्ध हैं। 'गबन' की आलोचना करते हुए 'प्रेमचंद की कला' शीर्षक निबन्ध में वे कहते हैं—"बात को ऐसा सुलझा कर कहने की आदत मैं नहीं जानता, मैंने और कहीं देखी है। बड़ी से बड़ी बात को बहुत उलझन के अवसर पर ऐसे सुलझा कर थोड़े से शब्दों में भरकर, कुछ इस तरह कह जाते हैं, जैसे यह गूढ़, गहरी, अप्रत्यक्ष बात उनके लिये नित्य-प्रति घरेलू व्यवहार की जानी-पहचानी चीज हो।...उनकी कलम सब जगह पहुँचती है; लेकिन अँधेरे से अँधेरे में भी वह कभी धोखा नहीं देती। वह वहाँ भी सरलता से अपना मार्ग बनाती चली जाती है। स्पष्टता के मैदान में प्रेमचंद अविजेय हैं। उनकी बात निर्णीत, खुली, निश्चित होती है।"

आलोचना-संपादक जिस समाधान को 'सरल' कहते हैं वह जैनेन्द्र कुमार के अनुसार 'बड़ी से बड़ी बात को बहुत उलझन के अवसर पर सुलझाना' है। वह 'सरल' इसलिये मालूम होता है कि स्पष्ट है, निर्णीत है, खुला है और निश्चित है। ऐसी सरलता तक पहुँचने में कितनी कठिनाइयों को पार करना पड़ता है, इसे जो नहीं जानते उनके लिए यह 'शॉर्टकट' है। जंगल में भटकने वालों की यह पुरानी शिकायत है। कदम कदम पर संघर्ष करते हुए जिस 'होरी' ने जिन्दगी का लम्बा रास्ता तय किया, उसने तो अपनाया 'शॉर्ट-कट' और जिसने बैठे-बिठाये आसमान में 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' दौड़ाया उसका रास्ता हुआ लम्बा! क्यों न हो? आसमान से धरती तक की लम्बी दूरी, सपनों का भारी बोझ और टाँगें बेकार! नौ दिन चले अढ़ाई कोस!

'शॉर्ट कट' की शिकायत केवल सातवें घोड़े के सवार को ही हो, ऐसी बात नहीं है। शिकायत करने वाले और भी हैं। इनका विरोध 'सीधी रेखा' से है।

'सीधी रेखा' से उनका मतलब है सोद्देश्यता। साहित्य में जहाँ सोद्देश्यता होती है, उसे वे समाज की 'सीधी छाया' या सत्य की 'सीधी रेखा' कहते हैं। यह 'सीधी रेखा' वही 'शॉर्ट कट' है, जिसका निषेध करके 'वर्तुल अथवा वक्र रेखा' पर चलने की सलाह दी जाती है। 'चलइ जोंक जल वक्रगति जद्यपि सलिल समान।'

मतलब यह कि सोद्देश्यता 'शॉर्ट कट' है, इसलिए सतही साहित्य-रचना से बचने के लिए लम्बे अर्थात् अनन्त रास्ते पर निरुद्देश्य यात्रा करनी चाहिए! लेकिन ये निरुद्देश्य पथिक इतने सरल नहीं हैं कि अपने को स्पष्ट शब्दों में निरुद्देश्य कह दें। इनका भी उद्देश्य है और वह उद्देश्य है अन्वेषण—आत्मन्वेषण। यह आत्मान्वेषण वैसा ही है जैसे बच्चे कभी-कभी अपनी ही आखें मूँदकर माँ से पूछते हैं कि बताओ मैं कहाँ हूँ। फर्क इतना ही है कि ये बच्चे नहीं हैं। इस प्रकार निरुद्देश्यता को ही इन्होंने अपना उद्देश्य बना लिया है और भरसक इसी का प्रचार करते रहते हैं।

निरुद्देश्यता के कार्यक्रम का पहला सूत्र यह है कि साहित्य का सम्बन्ध समाज से काट दिया जाय क्योंकि समाज के साथ बँधे रहने कुछ न कुछ सामाजिक कर्तव्य का बन्धन रहेगा ही। फलतः 'वक्र रेखा'-के अन्वेषक ने स्थापित किया कि "जिन कारणों से साहित्यिक प्रतिच्छाया में विकृति उत्पन्न होती है, उनके पीछे साहित्य और सौंदर्य के अपने नियम हैं जो सामाजिक आवश्यकता के बावजूद काम करते हैं। इन नियमों की क्रियाशीलता के कारण ही साहित्य ऊँची उड़ाने भरता है और उसमें सार्वभौमिकता एवं श्रेष्ठता उत्पन्न होती है।" (आलोचना ६,पृ० १४७)

साहित्य को श्रेष्ठ और सार्वभौम बनाने वाले वे 'अपने' नियम कौन से हैं, इसे बताने की क्या जरूरत? यह तो सभी जानते हैं। बताने की बात तो वह है जो सबको न मालूम हो। इसलिये लोगों का भ्रम दूर करने के लिये जोर देकर कहा गया कि साहित्य के सौंदर्य का कारण समाज नहीं है। इस विषय में फिर कोई भ्रम न रह जाय इसलिये आगे यह भी कह दिया गया है कि आलोचना के सामने असली सवाल सामाजिक यथार्थ का नहीं है, बल्कि उस यथार्थ की विकृतियों के अध्ययन का है।'

इतना कहने के बाद भ्रम की गुंजाइश के लिये कहाँ जगह है! बेशक 'आलोचना' 'यथार्थ की विकृतियों' का ही अध्ययन प्रस्तुत कर रही है। और

ऐसे अध्ययन के लिये सामाजिक यथार्थ से जितना ही दूर रहा जाय उतना हो अच्छा है! साहित्य-सौंदर्य के 'अपने' नियम समाज से दूर रह कर ही गढ़े जा सकते हैं और वे गढ़े हुये नियम कैसे होते हैं उसका प्रत्यक्ष उदाहरण उपर्युक्त उद्धरण है।

आश्चर्य की बात नहीं है। यह 'वक्र रेखा' लेखक को इसी तरह अपने समाज से दूर ले जाती है और इसके बाद तो वह 'सार्वभमौम' हो जाता है; अपने देश-काल से जड़ कट जाने पर वह स्वभावतः सारी दुनिया का हो जाता है। ऊँचाई पर पहुँच कर वह व्यापक दृष्टिकोण से सभी देशों के लिये समान भाव से साहित्य रचने लगता है। इस 'सार्वभौमिकता' की झलक इन लेखकों के उपन्यासों के सार्वभौमिक चरित्रों और विविध भाषाओं के उद्धरणों में मिल सकती है। पतनोन्मुख पश्चिमी लेखकों के विचारों से अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों को अलंकृत करके 'आलोचना' में इसी सार्वभौमिकता का ऊँचा आदर्श उपस्थित किया जाता है। इस सार्वभौमिकता का आदर्श यह है कि साहित्य में समाज की छाया को किस प्रकार अधिक से अधिक बिगाड़ कर प्रस्तुत किया जाय। साहित्यिक छाया में जितना ही बिगाड़ होगा, रचना में उतनी ही गहराई होगी! इस प्रकार वक्र रेखा से चलकर सार्वभौमिकता तक और सार्वभौमिकता से चलकर 'गहराई' तक की यात्रा पूरी होती है।

गहराई सार्वभौमिकता का ही दूसरा आयाम (!) है जो आलोचना के संपादकों का तकिया-कलाम बन गया है। कभी ऊँचाई की ओर तो कभी गहराई की ओर! दोनों आयामों के इस व्यायाम में यदि कोई चीज नहीं आने पाती तो वह है सतह! शायद ऊभ-चूभ करने वालों के लिए सतह वाले आयाम का अस्तित्व नहीं होता। विचारों की गहराई का नमूना है व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का घोषणा पत्र, तो अनुभूतियों की गहराई के नमूने दर्जनों व्यक्तिवादी कविताएँ और उपन्यास। इस प्रकार हम देखते हैं कि सतह के खिलाफ़ गहराई की आवाज़ उठाने वाले दरअसल समाज के खिलाफ़ व्यक्ति-स्वातंत्र्य की ही बात कहते हैं। यही उनकी गहराई भी है और सतह भी। और जिस तरह उनकी गहराई और सतह में कोई विरोध नहीं है, उसी तरह सभी लेखकों की गहराई और सतह में अविरोध है।

लेकिन जिन लोगों का 'दिल उनसे अलग जा पड़ा है और दिमाग के छिलके उतर गये हैं', उनके लिए एक-दूसरे से जुड़ी हुई चीजें भी अलग-

अलग और विरोधी दिखाई पड़ती हैं। जहाँ उन्हें व्यापकता दिखाई पड़ती है, वहाँ गहराई नहीं मिलती; और गहराई मिलती है तो व्यापकता नहीं मिलती। प्रेमचन्द में व्यापकता है तो गहराई नहीं है; जैनेन्द्र में गहराई है तो व्यापकता नहीं है। इसी तरह तुलसीदास में व्यापकता है तो गहराई ग़ायब है और सूरदास में गहराई है तो व्यापकता नदारद। व्यापकता और गहराई के इस विरोध में कुछ लोग तो 'अपने आप में' दोनों को महान कह कर जान छुड़ाते हैं। लेकिन जिन्होंने आलोचना के मूल्य-मान-मर्यादा का दायित्व लिया है वे व्यापकता के ऊपर गहराई को तरजीह देते हैं। इस कसौटी पर सूर श्रेष्ठ हो जाते हैं तुलसी से और शरच्चन्द्र श्रेष्ठ हो जाते हैं प्रेमचन्द से (क्योंकि जैनेन्द्र या अज्ञेय को खुलकर प्रेमचन्द से श्रेष्ठ करने का साहस अभी लोगों में नहीं आया है!)

देखना यह है कि किसी लेखक में व्यापकता के होते हुए भी जब हम गहराई की कमी पाते हैं तो वस्तुतः वह गहराई की कमी व्यापकता की ही कमी तो नहीं है? इसी तरह यदि कोई लेखक संकीर्ण होते हुए भी गहरा मालूम हो तो विचारने की जरूरत है कि कहीं हमारी उस गहराई में ही तो कमी नहीं है?

सबका कहना है कि जैनेन्द्र और अज्ञेय प्रेमचन्द की अपेक्षा बहुत कम व्यापक जीवन का केनवस लेते हैं; फिर भी कुछ लोगों को उनमें प्रेमचन्द से अधिक गहराई मिलती है। यह गहराई क्या है? कहते हैं यह अनुभूति की गहराई है। अनुभूति किस की? दर्द की। दर्द किसका? प्रेम का। 'पेन ऑफ लविंग' और 'पेनफुल ट्रूथ'। प्रेम का दर्द और दर्द की अनुभूति, क्योंकि कोई भी अनुभूति दर्द से रहित नहीं होती। प्रेमानुभूति का यही दर्द शेखर और भुवन को है तथा शशि और रेखा को है—शशि और रेखा को शायद अधिक। दर्द की परिसमाप्ति है मृत्यु या निराशा। यह अनुभूति हमारे जीवन को कितनी गहराई तक जाकर आन्दोलित करती है? यह दर्द हमें दबोचता है, अवसन्न करता है, निष्क्रिय बनाता है या हमें अपने संपूर्ण जीवन पर फिर से विचार करके नये सिरे से जीने के लिए प्रेरित करता है?

इस प्रकार इस अनुभूति की गहराई की परीक्षा करते हुए हम अनिवार्य रूप से इसकी व्याप्ति में जा पड़ेंगे। किसी को गहराई तक प्रभावित करने का

अर्थ है उसके सम्पूर्ण अस्तित्व, व्यक्तित्व और भाव-सत्ता को प्रभावित करना और बहुत देर तक प्रभावित किए रहना। अनुभूति की गहराई का निर्णय एक व्यक्ति और एक क्षण से नहीं किया जा सकता है। गहराई का निर्णय दिक् और काल-सापेक्ष है। इस तरह अनुभूति की गहराई पर विचार करते समय हमें साधारणीकरण के प्रश्न का सामना करना पड़ेगा। तब सवाल उठेगा कि उस विशेष चरित्र तथा अनुभूति में अधिक से अधिक लोगों और युगों तक पहुँचने की क्षमता है या नहीं? अनुभूति की गहराई को इस तरह तीव्रता के साथ सामान्यता का निर्वाह करना होगा। अनुभूति की शक्ति केवल तीव्रता में नहीं, बल्कि स्थायित्व में होती है और स्थायित्व का आधार वस्तुतः व्यापक मानवीयता ही है। जब किसी अनुभूति को हम गहरी कहते हैं तो उसे मानवीय कहते हैं। और मानवीयता से व्यापकता ख़ारिज नहीं है। मतलब यह कि मानवीयता की व्यापक भूमि पर ही कोई अनुभूति गहरी हो सकती है।

इस दृष्टि से देखने पर तथाकथित गहरी अनुभूति वाले सुनीता, त्याग-पत्र, शेखर, नदी के द्वीप जैसे उपन्यासों की गहराई की सीमाएँ प्रकट होने लगती हैं। व्यापकता की कमी से उनमें गहराई की कमी आ गई है। उनमें व्यापकता की कमी इस बात में नहीं कि राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक जीवन के चित्रण की उपेक्षा की गई है। केवल नारी-पुरुष के प्रणय पर लिखने से ही कोई उपन्यास संकुचित नहीं हो जाता; संकुचित वह तब होता है जब प्रणय को संपूर्ण जीवन से काट कर चित्रित किया जाता है; और वे उपन्यास इसी अर्थ में संकुचित हैं। समस्या चाहे जितनी छोटी हो परंतु व्यापक रूप से उपस्थित की जाने पर बड़ी हो जाती है। किसी उपन्यास की व्यापकता इस बात में है कि वह जीवन की छोटी से छोटी समस्या को कितने बड़े परिवेश में और किस स्तर पर उपस्थित करता है।

व्यापक परिवेश में और ऊँचे स्तर पर किसी समस्या को रखने का कार्य वही लेखक कर सकता है जिसका सम्बन्ध अधिक से अधिक व्यापक समाजिक परिवेश से हो और इस संबंध के विषय में जिसकी समझ का स्तर भी काफी ऊँचा हो। बड़ी मोटी बात है कि अपने बारे में ठीक से जानने के लिए अपने से संबंधित दूसरे लोगों के बारे में भी जानना ज़रूरी है। लेकिन जो लेखक अपने को उस ग्रंथि की तरह समझता है जिसके सभी सूत्र खो गए हैं, वह इन संबंध-सूत्रों को न तो जान सकता है और न पा सकता है। 'जीवन की बढ़ती हुई जटिलता के

परिणाम स्वरूप' जिनकी 'व्यापकता का घेरा क्रमशः अधिकाधिक सीमित होना चाहता है' उनकी हीनता-ग्रंथि ने अपनी संकीर्णता को ही गहराई का गौरव दे डाला है।

वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण जीवन की जटिलता बढ़ रही है तो इसका मतलब है कि हमारे सामाजिक संबंधों के सूत्र और भी व्यापक और घने हो रहे हैं। जरूरत इससे घबड़ाने की नहीं, बल्कि समझने की है। इन जटिल सम्बन्ध-सूत्रों को समझने और सुलझाने से ही हमारे व्यक्तित्व में समृद्धि आ सकती है और फिर ऐसे ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति साहित्य में श्रेष्ठता ला सकती है। मतलब यह है कि किसी अनुभूति की गहराई व्यापक परिवेश पर निर्भर है।

ताल्सत्वाय के 'पियरे' का नितांत निर्जी चिन्ताओं में अनुभूति की इतनी गहराई इसीलिए है कि उसके पीछे सारे रूस की राष्ट्रीय स्वाधीनता का संघर्ष है 'अन्ना' का अन्तर्द्वन्द्व इसीलिए इतना मार्मिक है कि उसके पीछे रूस के कुलीन घरानों के व्यापक नैतिक ह्रास की छाया है। प्रेम के साथ यहाँ सम्पूर्ण सामाजिक जीवन लिपटा चला आया है। इस तरह सम्बन्ध सूत्र जोड़ने के लिये लेखक को व्यक्ति-व्यक्ति और क्षण-क्षण की अनुभूतियों का संबंध मिलाना पड़ता है। लेकिन गहराई का दम भरने वाले लेखक अलग अलग क्षणों में जीते हैं। उनका हर क्षण अपने में पूर्ण और एक दूसरे से अलग है। इसलिए वे क्षण-सुख और क्षण की अनुभूति का चित्रण करते हैं। क्षण की अनुभूति अर्थात् इन्द्रिय-बोध और क्षण-सुख अर्थात इन्द्रिय-सुख। निःसन्देह इन इन्द्रिय-बोधों के चित्रण में अत्यन्त तीव्रता होती है और इसीलिए कुछ पाठक इन्हीं को अनुभूति की गहराई मान बैठते हैं। शशि की सतवर्णी छाँह में सोते की तरह सोने वाले शेखर के ऐन्द्रिय-बोध, तुलियन में रेखा के हिम-पिंडों पर जमते और पिघलते भुवन का ऐन्द्रिय सुख और सुनीता द्वारा संपूर्ण इन्द्रियों की खुली दावत या गार्डेन-पार्टी प्रायः अनुभूति की गहराई के रूप में स्मरण किए जाते हैं। कुछ आलोचकों ने इन स्थलों को अश्लील बताकर निंदा भी की है। लेकिन जो साहित्य के मूल्यांकन का नैतिक मानदंड स्वीकार ही नहीं करते उनकी 'गहराई' तो इस अश्लीलता से खंडित नहीं होती। इसलिए इनसे अनुभूति के उसी अखाड़े में मिलना होगा।

उन ऐन्द्रिय वर्णनों की दुर्बलता इस बात में है कि वे अनुभूति के प्रथम चरण तक ही रुक गये हैं। इन्द्रिय-बोध अनुभूति की केवल पहली अवस्था है; इसके बाद उसकी मानसिक प्रतिक्रिया भावानुभूति की सृष्टि करती है जो अन्त में चिन्तन के आलोक से आलोकित हो उठती है। परन्तु इन्द्रिय-बोध को भाव और चिन्तन की अवस्थाओं तक ले जाने लिए क्षणों के प्रवाह से गुज़रना होता है। और क्षणजीवी लेखक ऐन्द्रिय-सुख के क्षण से आगे बढ़ते ही नहीं और बढ़ते भी हैं तो मन ही मन उसी क्षण को जीते रहते हैं। इसी तरह काल-प्रवाह में बहने से इनकार करके ये लेखक अपनी अनुभूति का सहज आवेग और विकास-क्रम भी ख़त्म कर देते हैं। बँधे हुए क्षणों को बँधी हुई उन अनुभूतियों में इसीलिए स्वास्थ्य और उल्लास का अभाव मिलता है। चिन्तन की प्रौढ़ता और भाव की तरलता में व्यक्त हुए सशक्त ऐन्द्रिय-बोधों का वर्णन देखना हो तो गेटे का 'फ़ाउस्ट' और ताल्सताय का 'युद्ध और शान्ति' अथवा 'अन्ना कैरेनिना' देखें।

भाव और चिन्तन के कारण ऐन्द्रिय-बोध में गहराई इसीलिए आती है कि इनमें क्रमशः साधारणीकरण की शक्ति अधिक होती है। विशेष ऐन्द्रिय-बोध भाव और चिन्तन की सामान्यता के सहारे व्यापकता प्राप्त करता है: उपन्यास के किसी विशेष चरित्र के निजी कार्य-कलाप ऐसे ही सामान्य तत्वों के सहारे बहुतों की दिलचस्पी के हेतु बन जाते हैं। और इस तरह वह चरित्र किसी विचार का प्रतिनिधि बन जाता है। लेखक अपने चरित्र के व्यक्तित्व को भावों और विचारों की जितनी भूमियों पर उद्घाटित करता है, उसमें उतनी ही शक्ति आती है।

मतलब यह कि अनुभूति की गहराई हर हालत में अनुभूति की व्यापकता से निर्धारित होती है। व्यापकता का तिरस्कार करके जो लेखक गहराई लाने का दम भरता है, वह दरअसल संकीर्णता के अंध कूप में पड़ता है। उसकी अनुभूति का अर्थ संकुचित होता है और गहराई उथली होती है। 'तुलसी दास की भावुकता' पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने काफी पहले लिखा था कि जो केवल दाम्पत्य रति ही में अपनी भावुकता प्रकट कर सकें या वीरोत्साह का ही चित्रण कर सकें, वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते। पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्द-शक्ति

द्वारा प्रत्यत्न कर सकें।" इसके बाद विस्तार और गहराई का प्रश्न उठाते हुए शुक्ल जी फिर कहते हैं कि गोस्वामी जी की भावात्मक सत्ता का अधिक विस्तार स्वीकार करते हुए भी यह पूछा जा सकता है कि क्या उनके भावों में पूरी गहराई या तीव्रता भी है? यदि तीव्रता न होती, भावों का पूर्ण उद्रेक उनके वचनों में न होता, तो वे इतने सर्वप्रिय कैसे होते?" इससे गहराई और का सम्बन्ध स्पष्ट होता है।

साहित्यकार की गहराई इस बात में है कि वह सतह को तोड़ता है और इस तरह वह भ्रमों को हटाकर वास्तविकता का सही रूप उद्घाटित करता है। उद्घाटन-कार्य ही साहित्यकार का रचना-कार्य है—वास्तविकता का निर्माण वह उद्घाटन से ही करता है; भौतिक कारीगरों के तरह वह सचमुच कोई चीज़ नहीं बनाता। इसीलिए सार्त्रे लेखक के पेशे को 'गौण कार्य' कहता है। उसके अनुसार 'लेखक वह आदमी है जिसने गौण कार्य करने एक निश्चित तरीका चुन रखा है जिसे हम उद्घाटन-के-द्वारा कार्य कह सकते हैं।' भाषा जो कि लेखक का सबसे बड़ा साधन है, जिह्वा का गौण ही कार्य है।

सवाल यह है कि लेखक क्या उद्घाटित करता है? सबसे पहले वह अपना हृदय उद्घाटित करता है? लेकिन हृदय के माध्यम से क्या उद्घाटित होता है? कुछ साहित्यकार ऐसे हैं जो अपने मन का गांठें खोलते हैं, मन की एक-एक पर्त खोलकर रख देते हैं। चेतन की सतह के नीचे अवचेतन में पड़ी हुई बहुत सी बातों को खोलना ही उनके लिए सबसे बड़ा उद्घाटन कार्य है। इस तरह के साहित्यकारों ने अब तक अधिकांशत सेक्स ओर अहं संबंधी रहस्य का ही उद्घाटन किया है। साहित्य में गहराई का यह भी एक रूप है।

दूसरी ओर ऐसे भी लेखक हैं जो अपने मन के माध्यम से उस मन के साथ जुड़े हुए सैकड़ों दूसरे मनों का उद्घाटन करते हैं; इस तरह वे अपने मन के द्वन्द्व का उद्घाटन करते करते उस युग के पूरे समाज के संघर्ष को खोल कर रख देते हैं। ताल्सताय ने 'युद्ध और शान्ति' में पियरे के माध्यम से अपने मन में जीवन और मृत्यु को लेकर चलने वाले संघर्ष का उद्घाटन करते करते सारे रूस के विभिन्न वर्गों में विभिन्न स्तरों पर चलने समस्त संघर्षों को खोल कर रख दिया। जैसा कि सभी लोग जानते हैं, 'संसार की हर एक बात और सब बातों से संबद्ध है।' इसलिए यदि एक तथ्य का उद्घाटन किया जाय तो उसके साथ जुड़े हुए सैकड़ों तथ्य उघड़ते चले जायँगे। जैसा कि अकबर इलाहाबादी ने कहा है,

मैं चाहता हूँ कि बस एक ही ख़याल रहे,
मगर ख़याल से पैदा ख़याल होता है।

कोई लाख कोशिश करे कि मन एक ही ख़याल पर टिका रहे लेकिन मन का स्वभाव है कि वह उस ख़याल से जुड़े दूसरे ख़यालों पर दौड़ जाय। अगर आप कोई नैतिक समस्या लें तो उसका विश्लेषण करते ही अनेक धार्मिक समाजिक राजनैतिक और आर्थिक समस्याएँ उठ खड़ी होंगी। इस प्रकार साहित्यकार अपने व्यक्ति से शुरू करके अनेक अन्तर्वैयक्तिक सामाजिक संबंधों में चला जाता है और उसके साहित्य में इन संबंधों की जटिलता गहरे से गहरे स्तरों पर व्यक्त होती चली जाती है। साहित्य में गहराई का यह दूसरा रूप है।

सवाल यह है कि गहराई किसमें ज्यादा है? उस रचना में जो केवल एक मन के विभिन्न स्तरों का उद्घाटन करती है अथवा उस रचना में जो एक मन के, अनेक मनों से विभिन्न स्तरों पर मिलने वाले, सम्बन्धों का चित्रण करती है? फ़्लाबेयर का 'मादाम बोवारी' और ताल्सतॉय का 'अन्ना कैरेनिना' दोनों ही महान उपन्यास हैं। दोनों की नायिकाएँ अपने पति को छोड़कर दूसरे पुरुष की ओर आकृष्ट होती हैं फिर भी अन्ना के चरित्र में जो गहराई है वह मादाम बोवारी में नहीं है। अपने पुत्र शेरेज़ा के प्रति अन्ना का जो प्रेम है, वह उसे मादाम बोवारी से बहुत ऊँचे उठा देता है। यही नहीं, अपने प्रेमी व्रांस्की में कभी कभी उसे शेरेज़ा की झलक मिलने लगती है। इसके अतिरिक्त अन्ना में जो अन्तर्द्वन्द्व है उसका शतांश भी मादाम बोवारी में नहीं है। अन्ना के अन्तर्द्वन्द्व में इतनी गहराई क्यों है? वह अन्तर्द्वन्द्व क्या उसके मन में अपने आप पैदा होता है? जब भी वह अपने परिचितों, मित्रों अथवा समाज के अन्य लोगों के सम्पर्क में आती है, उसके मन में एक नया तूफ़ान उठ खड़ा होता है। गहराई से विचार करने पर पता चलेगा कि अन्ना के अन्तर्द्वन्द्व की गहराई अन्ना के सामाजिक अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों की जटिलता और विविधता से जुड़ी हुई है। इसलिये अन्ना का नैतिक स्तर भी मादाम बोवारी से बहुत ऊँचा है। अन्ना की प्रेम कहानी और नैतिक समस्या के बीच ताल्सताय ने लेविन के कृषि सम्बन्धी कार्यों का टाट-पटोरा बुना है। व्यर्थ प्रतीत होती हुई भी ये घटनाएँ अन्ना की भावात्मक गहराई को दूर तक प्रभावित करती हैं। अन्ना की दुःखान्त कहानी की पीठिका में लेविन की आत्म-चिन्ता सम्पूर्ण उपन्यास के स्वर को और भी मार्मिक बना देती है। यद्यपि लेविन की मृत्यु-भावना का प्रत्यक्ष सम्बन्ध अन्ना

की आत्म पीड़ा से कहीं भी नहीं दिखता लेकिन लगता है कि दोनों के मूल में एक ही सा सामाजिक कारण है। लगता है कि अन्ना की जो व्यथा भावनाओं के रूप में व्यक्त होती है, वही लेविन के यहाँ चिन्तन के स्तर पर उठती है। और 'वेंजिएन्स इज़ माइन, आइ विल रिपे'—बाइबिल का यह उद्धरण सम्पूर्ण सामाजिक पीड़ा का समवेत स्वर है। मादाम बोवारी की अपेक्षा अन्ना की गहराई का यही वस्तुगत कारण है।

इससे साबित होता है कि व्यापक संबंध-सूत्रों का उद्घाटन करने से ही भावों में भी गहराई आती है।

दरअसल जिसे हम भावों की गहराई कहते हैं वह भी भावों का व्यौरा ही है और भावों के व्यौरे का ही दूसरा नाम सम्बन्ध-सूत्र है। विभिन्न प्रकार की मानसिक प्रतिक्रियाओं से ही एक भाव के अंतर्गत कई छोटे-छोटे भाव उठते जाते हैं। इन भावों के पुंज से उपन्यास में किसी चरित्र का व्यक्तित्व समृद्ध होता है, किन्तु उस चरित्र के मन में वे भाव अन्य व्यक्तियों और स्थितियों की प्रतिक्रिया से ही उत्पन्न होते हैं।

एक ही भाव पर लिखी हुई दो कविताओं में से उसे हम अधिक गहरी कहते हैं जिसमें उस भाव के अन्तर्गत अनेक छोटी-छोटी अन्तर्दशाओं का चित्रण रहता है। सामान्य विलाप और दुःख की कविता में यही अंतर होता है। निराला की 'सरोज-स्मृति' में जो व्यथा की गहराई है वह व्यथा के विभिन्न सम्बन्ध-सूत्रों के कारण है। पुत्री की मृत्यु की दुखद स्मृति के बीच से जीवन के अन्य दुखों की भी स्मृतियाँ जागती जाती हैं और उनके साथ-साथ सुख की मधुर स्मृतियाँ भी आती हैं और इन निजी स्मृति-चित्रों के बीच समाज के व्यापक संघर्ष की भी झलक मिल जाती है। यही वजह है कि 'सरोज-स्मृति' अपने क्षेत्र में अद्वितीय कृति है। नये दर्दवादी कवियों के विलाप से निराला के दुःख में जो अधिक गहराई है उसका कारण उस दुःख की व्यापकता ही है। विरोधाभास तो यह है कि निराला की कविता अत्यधिक वैयक्तिक होते हुए भी इतनी सामाजिक है जब कि आज की बहुत सी निर्वैयक्तिकतावादी कविताएँ वैयक्तिक सीमा में ही बन्दी रह जाती हैं।

प्रेमचंद की गहराई का भी यही रहस्य है कि वे चाहे नारी-समस्या लें अथवा किसान-समस्या, उसके विविध-सूत्रों को वे उकेल के रख देते हैं। 'सेवा-सदन' मुख्यतः एक पराधीन नारी की मुक्ति-भावना को लेकर लिखा गया

है। सुमन अपने पति के घर में नित्य अपमानित और उपेक्षित होती रहती है और एक दिन अपने पड़ोस में एक वेश्या को सम्मानित होते देखकर स्वयं भी कोठे पर जा बैठती है। वहाँ जाने पर उसे पता चलता है कि इस अवस्था में भी उसका नारीत्व अपमानित होगा। फलतः वह उस कीचड़ से अपना उद्धार करती है। प्रेमचंद ने नारी की पराधीनता का चित्रण करते समय समाज के उन सभी वर्गों को उभार कर सामने ला दिया है जिनके कारण नारी पराधीन है। प्रेमचंद के सभी उपन्यासों में किसानों की मुक्ति का आन्दोलन नारी-स्वाधीनता के भाव से जुड़ा हुआ है। समाज की सर्वाधिक शोषित ये दोनों शक्तियाँ उनके उपन्यासों मे एक साथ एक तरह से चित्रित होती हैं।

वास्तविकता के स्तर-स्तर उद्घाटित करने में प्रेमचन्द का जवाब नहीं। 'गोदान' में होरी का साक्षात् शोषण कोई नहीं करता फिर भी होरी तबाह रहता है; तबाह वह इसलिये है कि अपने शरीर में लगी हुई जोंको को नहीं देख पाता। लेकिन प्रेमचन्द ने उन सबका उद्घाटन इस तरह किया है कि होरी के बाद आनेवाली पीढ़ी इन्हें पहचान ले। प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में भारतीय समाज का 'एक्सरे' करके रख दिया है और इसी को कहते हैं साहित्यकार का उद्घाटन-कार्य। सतह को इसी तरह तोड़ने का नाम गहराई है।

लेकिन आज के बहुत से लेखक हैं जो वास्तविकता पर परदा डालने को ही गहराई समझते हैं। ये आज के शोषण और सामाजिक प्रगति पर रहस्य और दर्द के कुहासे का परदा डालते हैं। जो सत्य का उद्घाटन करने की ओर कदम ही नहीं बढ़ता उसकी गहराई कैसी?

सचाई यह है कि 'गहराई' के हिमायती अधिकांशतः अन्तर्मुखी हैं और अपने अन्दर निरन्तर सिमटते जाने को ही वे गहराई कहते हैं। परिस्थिति पर प्रहार करना तो दूर, उल्टे ये पीछे भागते हैं, यदा सहरते चायं कूर्मोऽङ्गानिव सर्वशः। इसी को गुलेरी जी ने 'कछुवा धर्म' कहा है। इस तरह ये लेखक जैसे जैसे अपने भीतर सिमटते जाते हैं, उसी क्रम से समाज से दूर होते जाते हैं। रत्नाकर जी की गोपियों की तरह उन्हें भी कहना चाहिये कि—

> ज्यों ज्यों बसे जात दूरि दूरि प्रिय प्रान मूरि
> त्यों त्यों धँसे जात मन-मुकुर हमारे मैं।

फिर भी ये रणछोड़ बहादुर अपने को पलायनवादी नहीं मानते, गोया-समाज से आसमान में भागना ही एक पलायनवाद है!

इस आन्तरिक पलायन को ये लेखक 'आन्तरिक सामाजिकता' कहते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि समाज विभिन्न व्यक्तियों के अन्दर रहता है। यदि ऐसी बात है तो व्यक्ति की सीमा से बाहर जो पारस्परिक सम्बन्ध हैं उनका नाम क्या होगा?

अगर यह कहें कि 'आन्तरिक सामाजिकता' का अर्थ है समाज को अपने अन्दर ले आना तो भी यह समस्या नहीं सुलझती। समाज के अन्दर रहे बिना समाज व्यक्ति के अन्तर में कैसे आएगा? कमण्डल को नदी में डाले बिना कमण्डल में पानी कैसे आएगा? दरअसल यह सामाजिकता को पिछले दरवाजे से अन्तर में घुसाने की तरकीब है—सामने से समाज को लेने का साहस नहीं है और उसपर यह हाल!

कोई पूछे तो उनसे कि अधिक गहराई कहाँ संभव है—समाज के अन्तर में या अंतर के समाज में? अंतर की सामाजिकता कैसी होती है, इसका नमूना उनके दर्द भरे क्षीण विलाप में है। विलाप के स्वर में भी गहराई नदारद! इसकी वजह यह है कि ताल के सूखने से उसकी व्यापकता के साथ गहराई भी कम होती है। अपने भीतर सिमटने से गहराई नहीं आती; गहराई आती है वास्तविकता के भीतर प्रवेश करने से।

सच पूछिए तो सामाजिक वास्तविकता में प्रवेश करने पर ही हम अपने भी मन में प्रवेश करते हैं। जिन्होंने समाज की वर्तमान विषमता से आँखें मूँद ली है, उन्हें अपने जीवन के बारे में भी सोचने-विचारने से छुट्टी है और यदि वे सोचते-विचारते भी हैं तो केवल निजी ज़रूरत की बातें। उनके सोचने में गहराई नहीं होती; इसीलिए उनमें मानवता नहीं होती। इस प्रकार गहराई की व्यापकता मानवता तक जाती है।

———

कलात्मक सौंदर्य का आधार •

मलार्मे ने कहीं लिखा है कि कविता विचारों से नहीं, शब्दों से लिखी जाती है। वह इतना जोड़ना भूल गया कि विचार ही शब्द होते हैं। विचारों से शब्दों का बिलगाव करके और शब्द-शिल्प पर अधिक ज़ोर देकर, उसने अत्यंत दीक्षागम्य तथा सांकेतिक कविताएँ लिखीं। यह प्रवृति थोड़े-बहुत अन्तर के साथ यूरोप के अन्य देशों में भी दिखाई पड़ी। आज हमारे साहित्य में भी इस सिद्धान्त और प्रयोग की चर्चा है। इसलिए मलार्मे के उस सूत्र की सीमाओं पर विचार करना आवश्यक है।

भाषा, साहित्य की अभिव्यक्ति का एकमात्र माध्यम है। इसलिए साहित्य में कलात्मक सौन्दर्य लाने के लिए उस माध्यम पर अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है। लेकिन उस माध्यम को ही साध्य मान कर उसी की कारीगरी में सिमट जाना, कोरे रीतिवादी अथवा रूपवादी साहित्य को जन्म देना है। ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि कोई साहित्यकार ऐसा नहीं कर सकता, किन्तु व्यवहार में बड़े-बड़े साहित्यकार इस राह भटकते देखे गये हैं। हिन्दी कथा-साहित्य में नयी शैली के प्रवर्तक जैनेन्द्र कुमार निर्जीव शिल्पाभास के छोर पर पहुँच गये और हिन्दी समीक्षा में रुचिर गद्य के शिल्पी शान्तिप्रिय द्विवेदी भी धीरे-धीरे चमत्कार-पूर्ण सूक्ति-विधान में जा भटके। लेकिन विचार-विरहित अतिशय शिल्प-प्रियता का दुष्परिणाम गद्य में उतना नहीं दिखाई पड़ता, जितना कविता में। रीतियुग के कवि अंतिम दिनों में घनाक्षरी या सवैया का अंतिम चरण खूब ज़ोरदार या चमत्कारपूर्ण गढ़ते थे और शेष चरण केवल छंद-पूर्ति के लिए भर देते थे। इधर नये गीतकार भी कविता की पहली पंक्ति खूब रंग जमाने वाली ढूँढ़ कर बाकी पंक्तियाँ केवल गीत को आकार देने के लिए बिठाते पाये जाते हैं। परन्तु अत्याधुनिक काव्य-प्रवृत्ति में यह रूपवादी मनोवृत्ति कुछ सुसंस्कृत रूप में प्रकट होती है। यहाँ कवि अपने माध्यमों के साथ 'प्रयोग' करता है: कभी छंद के साथ, कभी प्रतीकों के साथ, कभी केवल कुछ शब्दों के साथ, कभी विराम-चिह्नों के साथ और कभी एक ही कविता में इन सब के साथ।

वह इस शिल्प में इतना तल्लीन हो जाता है कि विषयवस्तु पीछे छूट जाती है और ऊपर उसकी कारीगरी ही कारीगरी दिखाई पड़ती है। इन कवियों के आग्रह पर इन्हें 'प्रयोगवादी' न कह कर, 'प्रयोगशील' ही क्यों न कहा जाए, उससे उनके प्रयोग में तात्विक अन्तर नहीं पड़ता। विचार या भाव से रहित कोरे शिल्प-संस्कार को वे असफल प्रयोग कह कर तिरस्कृत भले ही कर दें लेकिन है उन सब के मूल में वही रूपवाद।

रूपवादी अथवा प्रयोगवादी रचना का यह मतलब नहीं है कि उसमें किसी विचार या भाव का सर्वथा अभाव हो; बल्कि यह कि उसमें विचार या भाव से अधिक शिल्प का उभार हो। जब रचना में सार्थक और साकांक्ष शब्दों का प्रयोग है, तो कुछ न कुछ अर्थ होगा ही और अर्थ के साथ किसी न किसी विचार या भाव का अनुबंध स्वाभाविक है; लेकिन रूपवादी रचना में विचार या भाव की आन्तरिक समृद्धि नहीं मिलती। साफ़ शब्दों में, रूपवादी बहुत-कुछ उस बतकहे की तरह है जिसमें बात करने का कौशल तो खूब हो, परन्तु कहने के लिए कोई महत्वपूर्ण बात न हो और जिसके साथ घंटे दो घंटे तक बात करने के बाद कुछ भी हासिल न हो। यह आकस्मिक नहीं है कि हिन्दी के ये प्रयोगवादी कवि कभी विषयवस्तु की चर्चा नहीं करते। रूप-कल्प और शैली-शिल्प की इतनी चर्चा, लेकिन जिस वस्तु से ये सभी चीज़ें सजीव, सशक्त और सुन्दर होती हैं, उनके विषय में बिलकुल चुप रहने का और क्या अर्थ हो सकता है? हाँ, वे कभी-कभी गोलमोल शब्दों में विषयवस्तु का उल्लेख करते हैं, लेकिन वह भी रूपवाद पर परदा डालने के लिए अथवा उस अभिप्राय के लिए, जिसे मनोविज्ञान में 'रेशनलाइज़ेशन' कहते हैं। यह तर्क भी विचित्र है : 'नया रूपविधान नये रागात्मक संबन्धों के कारण और नये रागात्मक संबन्ध नयी सामाजिक परिस्थितियों के कारण।' ऊपर से देखने में सामाजिक आवश्यकता का परिणाम प्रतीत होने पर भी, प्रयोग में सारा नया रूपविधान 'नये रागात्मक संबन्धों के नाम पर केवल समाज-निरपेक्ष मध्यवर्गीय व्यक्ति की मानसिक बीमारियों का सहानुभूतिपूर्ण और मोहक अलंकरण है। इसी आत्महीनता के कारण वे विषयवस्तु पर जोर नहीं देते। "चोर नारि जिमी प्रगटि न रोई" वाली बात समझिए। गरज़ कि जिस प्रकार रूपविधान की चर्चा करते समय विषयवस्तु की समस्याओं में उतरना अनिवार्य हो जाता है, उसी प्रकार रूपविधान के साथ विषयवस्तु के अभिन्न संबंध अथवा उसके महत्व पर ज़ोर देना आवश्यक है। यदि

बड़े से बड़ा रूपवादी भी अपनी वकालत के लिए ही सही, विषयवस्तु और 'सामाजिक आवश्यकता' का सहारा लेने के लिए बाध्य है, तो इसका साफ़ मतलब है कि रूपविधान की अपेक्षा विषयवस्तु का महत्व अधिक है। इसलिए प्रगतिशील समीक्षक साहित्य में विषयवस्तु की चर्चा अधिक करते हैं और उस पर ज़ोर भी अधिक देते हैं।

हमारे साहित्य की महान् परम्परा भी यही रही है। गो० तुलसीदास ने भी विषयवस्तु की महत्ता पर ही अधिक बल दिया है—

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जेऊ।
राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥

अथवा

हृदय सिंधु मति सीप समाना।
स्वाति सारदा कहहिं सुजाना॥
जौं बरषइ बर बारि बिचारू।
होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥

यहाँ हृदय, मति और विचार का यह संघटन सोद्देश्य और साकांक्ष है—यों ही रूपक-निर्वाहमात्र नहीं है। 'सरल कबित कीरति बिमल' का आदर्श रखने वाले महाकवि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "सो न होई बिनु बिमल मति।" कहने के लिए बात बड़ी चाहिए, ढंग तो उसके आवेग से स्वयं लिपटा आता है। भक्त कवियों के पास यही विशेष बात थी, जिसने बिहारी आदि कुशल शब्द-शिल्पी कवियों से उन्हें ऊपर उठा दिया। भक्त कवियों को 'लोक संग्रह' की चिन्ता अधिक थी; वे कलि-दग्ध प्राणियों के उद्धार के लिए आकुल थे; उनकी कविता का आदर्श था, "सुरसरि सम सब कहँ हित होई।" इसके विपरीत रीतिवादी कवि दिन-रात काव्य-शास्त्र के नियमों और लक्षणों की चिन्ता में लीन थे, उन्हें ऊँचे आदर्श की परवा कहाँ? समाज के दुःख दर्द की ओर उनकी दृष्टि क्यों जाती? परिणाम सामने है। काव्य के रूपविधान की चर्चा न करते हुए भी, भक्त कवियों ने ऊँची काव्य-क्रिया का उदाहरण रखा और रीतिवादी कवि दिन-रात उसकी साधना करने पर भी टापते रहे। प्रयोग-प्रिय आधुनिक कवियों को अपने इतिहास से सीख लेना चाहिए। यह अभ्यास बहुत-कुछ वैसा ही है, जैसे कोई स्वस्थ होने के लिए घी-दूध-फल आदि पौष्टिक पदार्थों का

सेवन न करके या तो योगासन और स्वास्थ्यरक्षा आदि की पुस्तकों से नियम रटता रहे अथवा उन नियमों का अभ्यास करे। यह प्रयत्न पेड़ काट कर पल्लव सींचने के समान है।

इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि विषयवस्तु पर पर विशेष बल देना एकांगी होना नहीं है, बल्कि सही तरीक़ा है; और रूपविधान पर ज़ोर देना ग़लत हैं।

अब सवाल यह उठता है कि विषयवस्तु पर ज़ोर देने के सही माने क्या हैं? कुछ लोग सिद्धान्तों के अनुकथन को ही ऊँची कविता का ढंग समझते हैं। भक्त कवियों ने भी कहीं-कहीं अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की पद्यबद्ध उद्धरणी की है। लेकिन सुधीजन जानते हैं कि उन महाकवियों की कीर्ति उन अनुवादों के कारण नहीं है। पंत जी ने भी 'युगवाणी' की कुछ कविताओं में यही किया है। आगे चल कर उनके 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि', 'उत्तरा' और रजत शिखर' में भी यही प्रवृत्ति पायी जाती है। इधर 'नवीन', 'दिनकर', उदयशंकर भट्ट को भी दार्शनिक सूक्तियाँ पद्यबद्ध करने की आदत पड़ने लगी है। प्रागतिशील काव्य तथा कथा-साहित्य के नाम पर भी इसी तरह कोरे मार्क्सवादी विचारों की अभिव्यब्यक्ति हुई है। क्या विषयवस्तु पर ज़ोर देने का अर्थ यही है? क्या कविता में महान् विचारों की अभिव्यक्ति का ढंग यही है? जवाब साफ़ हैं। स्वयं इन रचनाओं के कृती कवि और लेखक ही इसको हेय मानेंगे। कहानियों और उपन्यासों में अभिप्रेत विचार को पात्रों के जीवन और उनके पारस्परिक संबन्धों के सजीव रूपों से सहज उद्भूत और ध्वनित होना चाहिए; निष्कर्ष को चित्रित प्रंसगों में अन्तर्भूत होना चाहिए, उन पर आरोपित नहीं। कविता में इन विचारों को सजीव चित्रों और प्रतिमाओं के रूप में व्यक्त होना चाहिए। लेकिन यह शक्ति कैसे आती है? विचार जिस प्रकार प्राप्त होता है, उसी प्रकार अभिव्यक्त भी होता है। यदि वह पुस्तकों से प्राप्त होता है, तो पुस्तकी ढंग से प्रकट होता है; यदि वह जनारण्य से दूर एकान्त कमरे में आराम कुर्सी के चिन्तन से प्राप्त होता है, तो रचना में भी एकान्त और वैयक्तिक चिन्तन का रूप लेता है; और यदि वह जीवन के संघर्षों में कुछ निछावर करने से प्राप्त होता है, तो उसी गर्मी, उसी ताज़गी, उसी सजीवता, उसी सक्रियता तथा उसी मूर्तिमत्ता के साथ रूपायित होता है। साहित्य में इसी रूपायन का महत्व है।

व्यापक समाज से कटे हुए मध्यवर्गीय व्यक्ति की तरह उसके विचार भी अर्थ-उदास और निरंग होते हैं और इन अमूर्त विचारों को वहन करने वाली रचना भी एकांतिकता से अभिशप्त दिखाई पड़ती है। यह फल के उस रस की तरह होती है, जिसे सजीव फल में से निचोड़ कर बोतल में बंद कर दिया जाता है उस निचोड़े हुए रस में भी मिठास होती है, लेकिन पल्लवों से सुशोभित छिलका, रेशा, गुठली वाले सजीव फल की शोभा तथा सरसता और ही है। साहित्य में ऐसी ही सुषमा तथा रस की महिमा है। यह तभी संभव है, जब साहित्यकार जीवन का सक्रिय उपभोग करे और उस भोग की बाधक शक्तियों से संघर्ष करे तथा साधक शक्तियों के सुख-दुःख में भाग ले। जीवन का भली भाँति उपभोग करने के लिए आवश्यक है कि जीवन-सत्य को पूर्णतः समझ लिया जाए। क्योंकि :

देह धरे को दण्ड हैं, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान से, मूरख भुगतै रोय॥

इसलिए साहित्य में विषय वस्तु पर बल देने का अर्थ है यथार्थ जगत् के सत्य का पूर्ण और गहरा ज्ञान। इसी ज्ञान से जीवन के प्रति वह अडिग आस्था आती है, जो सम्पूर्ण साहित्य को अदम्य दीप्ति देती है। यह आस्था समाज के व्यापकतम सम्बन्ध और उन सम्बन्धों को वैज्ञानिक ढंग से समझने के प्रयत्न से ही सम्भव है।

आज हमारे सामने सबसे बड़ी समस्या यही है कि अधिकांश लेखक मध्यवर्ग के हैं—उस वर्ग के, जिसका सम्बन्ध व्यापक जनजीवन से दिन पर दिन कम होता जा रहा है अथवा यह सम्बन्ध मानवोचित न हो कर क्रमशः पण्यवस्तुपरक होता जा रहा है। हमें अपनी साहित्यिक परम्परा का अध्ययन करने से पता चलता है कि व्यापक जनजीवन से साहित्यकार का अलगाव इतना अधिक पहले न था। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि संस्कृत कवियों तथा कबीर, सूर तुलसी, आदि हिन्दी कवियों के युग में समाज इस गहराई तक विभाजित न था। गाँवों और नगरों के बीच ऐसी खाई न थी। मनुष्य-मनुष्य के बीच इस क़दर बाज़ारू सम्बन्ध न था। यह अतीत के प्रति अंधानुरागमात्र नहीं, बल्कि ऐतिहासिक तथ्य है। आधुनिक युग में भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रेमचन्द, 'प्रसाद' आदि के काल में मध्यवर्ग सामान्य जनजीवन से इतना विच्छिन्न

न था। गाँधी जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन ने गाँवों और नगरों को एक धारा में बहा दिया था। इसीलिए उन सभी साहित्यकारों की वाणी में ओज, शक्ति, आशा तथा सरल आकांक्षा के अनेक धूपछाँही रूप सजीव हो उठे हैं। लोक-गीतों की मार्मिकता का यही रहस्य है कि लोक-कवि अपने समाज का अभिन्न अंग होता है। लेकिन आज का साहित्यकार दो नावों पर है। एक ओर है उसके मध्यवर्ग का संस्कार और दूसरी ओर व्यापक जन-जीवन से मिलने की आकांक्षा। उसमें अन्तर्द्वन्द्व है। अनुभूति-प्रवण सभी साहित्यकार अनुभव करते हैं कि वर्तमान समाज-व्यवस्था साहित्य और कला की विरोधी है। इस व्यवस्था ने साहित्यकार के साथ-साथ, उसके साहित्य को भी पण्य-वस्तु बना दिया है। 'एक अध्ययन' सीरीज़ वाली पुस्तकों की निन्दा करना आसान है, लेकिन देखा जा रहा है कि चार साल पहले जो लोग उनके निन्दक थे, वही लोग आज दिल्ली, आगरा आदि नगरों के प्रकाशकों के तकाज़े पर स्वयं भी छात्रोपयोगी समीक्षा-संग्रहों का कार्य कर रहे हैं। यही हाल है 'कुशवाहा कान्त' के 'वासना और हत्या'—परक बाजारू उपन्यासों तथा उनके आलोचक उपन्यासकारों का। दोष इन साहित्यकारों का ही नहीं है, दोष है उस वणिग्-व्यवस्था का। दूसरी ओर वे शुद्ध साहित्यकार रो रहे हैं, जिनकी ऊँची (?) कला-कृतियोंको कोई छाप नहीं रहा है और छाप भी रहा हैतो वे बिक नहीं रही है; प्रायः वे स्वयं छापने को बाध्य हो रहे हैं। अपनी 'शुद्धता' के सीमित दायरेमें सिमटे हुये ये साहित्यकार भी वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाका दबाव अनुभव कर रहे हैं। सैद्धान्तिक चर्चा में प्रायः ऐसी बातों को बचा जाना ही अच्छा समझा जाता है। लेकिन यहाँ जान-बूझ कर ये बातें उन लोगों के लिए कही गयी हैं, जो इस आर्थिक चक्की में पिसते हुये भी साहित्य-शास्त्र की चर्चा में 'साहित्य के आर्थिक आधार' पर बे-तरह भड़क उठते हैं।

साहित्यकार का दोष यहीं है। यथार्थ को देखते और अनुभव करते हुए भी, जब वह इस साहित्य-विरोधी व्यवस्था का विरोध करने के लिये वैज्ञानिक दृष्टिकोण से काम नहीं लेता, तो समझना चाहिए कि वह स्वयं अपने ही विरुद्ध है और अपने ही हितोंका निषेध कर रहा है। साहित्यमें विषय वस्तु पर ज़ोर देने का यही अर्थ है कि वह इस आत्म-सत्य को स्वीकार करे। जब तक वह इसे स्वीकार नहीं करता, उसमें वह आस्था नहीं आएगी, जो उसकी रचना को कलात्मक सौन्दर्य प्रदान कर सकती है।

इस सत्य का निषेध करके कुछ साहित्यकार व्यक्ति-स्वातंत्र्य का नारा बुलन्द करते हैं। वे इस पीड़ा को व्यक्ति की पीड़ा मानते हैं और सम्पूर्ण समाज को अपना दुश्मन समझते हैं। यह ढङ्ग अराजकतावादी है। ये साहित्यकार वर्तमान से उतने पीड़ित नहीं हैं, जितने भविष्य से। इन्हें वर्तमान की सम्पूर्ण पीड़ा इसी सूत्र में दिखाई पड़ती है कि 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य आज ख़तरे में है।' सामूहिक स्वातंत्र्य में ही सच्चा व्यक्ति-स्वातंत्र्य है, इस सत्य को वे नहीं समझ पाते। इस प्रकार भविष्य की स्वतंत्र जन-व्यवस्था से डरने वाले ये साहित्यकार वर्तमान दासता की पीड़ा को झुठलाते हैं; दूसरे शब्दों में ये यथार्थ का निषेध करते हैं। ये आत्म-विरोधी साहित्यकार अपने देश की जनता के निकट जाने की बात न करके, सोवियत रूस की 'सेंसरशिप' की चर्चा बहुत करते हैं। वस्तुतः इन सभी बातों के मूल में है उनका चरम व्यक्तिवाद। उन्हें भय है कि जब सामान्य जन भी स्वतंत्र हो जाएँगे, तो उनके अबाध व्यक्ति-स्वातंत्र्य को धक्का लगेगा। लेकिन वे यदि थोड़ा रुक कर समाज-निरपेक्ष अकेलेपन की पीड़ा, निराशा, उदासीनता, मानसिक कुंठा का विश्लेषण करते तो साम्यवादी देशों की 'सेंसरशिप' की फिजूल चर्चा छोड़कर अपने देश के सामान्य जन-स्वातंत्र्य में सक्रिय योग देने का 'प्रयोग' करते। ऐसा न करना उनकी 'अनजानी ग़ैर-ईमानदारी' है। वस्तुतः उनके 'भविष्य की कल्पना' ही ग़लत है। वे चाहते हैं कि इस परिवर्तन के बाद ऐसी व्यवस्था आए, जिसमें औरों की स्वतंत्रता चूल्हे-भाड़ में जाए, लेकिन उनको अबाध छूट मिले। इस तरह उनकी 'स्वतंत्रता' की धारणा ही ग़लत है। वह निषेधात्मक है; उसमें परस्पर-सहकारिता का अभाव है। पारस्परिक सहयोग की पराकाष्ठा की प्राप्ति ही स्वतंत्रता है। ऐसे ही सहयोग और सुविधा में महान् व्यक्तित्व वाले युग-पुरुष तथा साहित्यकार पैदा होते हैं जिनके व्यक्तित्व में सम्पूर्ण समूह और जाति का पौरुष पुंजीभूत हो उठता है। ऐसे भविष्य का विश्वासी साहित्यकार अपनी रचना में महान् विषयवस्तु दे सकता है, क्योंकि उसकी जिस प्रतिभा-वल्लरी में ऐसे स्वप्न का फूल खिलने वाला है, उसकी जड़ें वर्तमान जन-जीवन के प्रयत्नों की यथार्थ भूमि में गहराई तक गई हैं।

लेकिन यहाँ तो कुछ साहित्यकारों को अपने सन्देहों से ही फुरसत नहीं है और उसी को वे अपना धन समझते हैं। इसी कारण इन सन्देहवादी साहित्यकारों की कृतियों में जब घोर निराशाजनक लम्बे चित्रण के बाद, अन्त में भावी समाज का काल्पनिक चित्रण आता है, तो वह एकदम अस्वाभाकि और आरो-

पित प्रतीत होता है। मानवतावादकी लम्बी-चौड़ी वार्ता के बाद भी मानव-जय का कोई मूर्त रूप इनके सामने नहीं होता। मूर्त रूप नहीं होता, क्योंकि जनता की यथार्थ शक्ति से इनका परिचय नहीं है। अस्तु, उनका मानवतावाद खोखला, झूठा और आदर्शवादी है, क्योंकि उसमें यथार्थ की आग नहीं होती। इनका गोल-मोल और हवाई मानवतावाद बिलकुल निर्लित और निर्विकार होता है; उसका किसी से विरोध नहीं है; वह सब का कल्याण मनाता है, यदि वह विरोध भी करता है,तो पाप, शोषण, दैन्य, कलुष आदि अमूर्त मनोविकारों का; वह मूर्त मानव-मूर्तियों का नाम लेते ही मौन हो जाता है। इस मानवतावाद का अभिप्राय कुछ-कुछ ऐसा है कि विचारमात्र से ही विचार बदल जायँगे और फिर जगत् भी आदर्श हो जाएगा; इन विचारों को सक्रिय रूप देने की बात वे सोच भी नहीं सकते, क्योंकि वहाँ कुछ लोगों से संघर्ष हो जाने की आशंका है। पंत जी का नवीन मानवतावाद बहुत कुछ इसी तरह का है, जो मूलतः आदर्श-वादी है।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि जिसका मानवतावाद जितना ही अस्पष्ट और उलझा हुआ होगा, उसके साहित्य का रूपविधान भी उतनाही अस्पष्ट और उलझनपूर्ण होगा। सूक्ष्म मानवतावादी कवि सदैव 'सामान्य' बातें कहता रहेगा, क्योंकि 'विशेष' के चित्रण से ख़तरा है; फलतः 'विशेष चित्रों' और 'विशेष मानव-मूर्तियों' के अभाव में उसका सारा काव्य और कथा-साहित्य निर्जीव सामान्यीकरण-मात्र रह जाएगा। इसके विपरीत जिसका मानवतावाद जितना ही स्पष्ट और मूर्त होगा, उसके चित्रों और पात्रों में भी उनती ही सजीवता होगी तथा उसकी भाषा भी उतनी ही सहज, स्वाभाविक, संवेद्य और ओजस्विनी होगी। हम दूसरों को धोखा दे सकते हैं, लेकिन अपने को नहीं; और जो साहित्यकार ऐसा करने का प्रयत्न करता है, वह तमाम शिल्प-ज्ञान के बावजूद अपनी कला को चौपट करता है।

इसलिए विषयवस्तु पर ज़ोर देने का सही अर्थ है मूर्त और ठोस रूप में युग सत्य को पहचानना और स्पष्ट रूप से मानव-जय की वाहिनी का पक्षधर होना।

युग-सत्य को मूर्त रूप में पहचानना ही काफ़ी नहीं है; साहित्यकार के जीवन और साहित्य में वह जितनी प्रगाढ़ता से अन्तर्भूत रहेगा उसकी रचना

उतनी ही कलात्मक पराकाष्ठा पर पहुँचेगी। अनेक साहित्यकार ऐसे हैं, जो जनता की पार्टी के सक्रिय सदस्य हैं, जनवादी विचारों के अच्छे ज्ञाता तथा प्रवक्ता हैं, फिर भी अपने साहित्य में मध्यवर्गीय बीमारियों वाले कलाकारों के साथ हैं। इसी बात को लेकर कुछ लोगों का आरोप है कि वे ईमानदार नहीं हैं। बात ठीक है यदि ठीक ढङ्ग से कही जाए। यदि इसका अर्थ यह है कि वे मध्यवर्गीय बीमारियों का जो साहित्य लिखते हैं, उसी के अनुकूल अपने राजनीतिक विचार भी रखें, तो यह शुद्ध और तार्किक ईमानदारी, बेईमानी से बड़ा पाप—आत्महत्या है। यदि इस आरोप का अर्थ यह है कि वे जनवादी विचारों को क्रमशः व्यावहारिक जीवन और साहित्य में अन्तभुक्त रूप में लायें, तो बात कुछ समझ में आती है और उनसे इतना ही कहा जा सकता है कि यह काम एक दिन का नहीं है। साहित्य का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि जिन मध्यवर्गीय कवियों ने जिस क्रम से जनवादी शक्तियों के साथ तादात्म्य स्थापित किया है, उनकी कला उसी क्रम से स्वस्थ और सुन्दर होती गयी है। विभाजित समाज में तादात्म्य का यह कार्य अपेक्षाकृत मद्धिम होता है क्योंकि साहित्यकार के मार्ग में अनेक व्यक्तिगत और सामाजिक बाधायें आती हैं। जब तक सामाजिक अन्तर्विरोध दूर न होगा, व्यक्ति-जीवन का भी अन्तर्विरोध दूर न होगा और जब तक व्यक्ति-जीवन का यह अन्तर्विरोध दूर न होगा, साहित्य की विषयवस्तु और रूपविधान में भी यह अन्तर्विरोध बना रहेगा।

यह अन्तर्विरोध किसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से दूर नहीं हो सकता; यह तो तभी दूर होगा, जब मानव-मानव के बीच स्वस्थ और सहज सामाजिक संबंध होगा, परस्पर सौहार्द्र और सहयोग की भावना होगी। अस्तु, ऐसा समाज-निर्माण जिस क्रम से होता जाएगा, मध्यवर्गीय साहित्यकार का अन्तर्विरोध भी उसी क्रम से दूर होता जायेगा। इसलिये तर्क-सङ्गत यही है कि साहित्यकार इस सामाजिक परिवर्तन में अधिक से अधिक सक्रिय योग दे। साहित्यकार जीवन संग्राम का योद्धा होता है, तटस्थ दर्शक नहीं।

यहाँ सहज ही यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि सोवियत रूस, नये चीन आदि देशों में, जहाँ यह सामाजिक अन्तर्विरोध लगभग दूर हो चुका है, साहित्य सृजन की क्या प्रगति है? सोवियत यूनियन की ही बात लें। पहली बात तो ध्यान में रखने योग्य यह है कि शेष संसार के दो तिहाई पूँजीवादी देशों से घिरा

हुआ वह भू-भाग समाजवादी व्यवस्थाका लाभ उठाता हुआ भी, प्रतिपल युद्ध की आशंकाओं से सतर्क रहा है। इससे सच्चे अर्थों में सामाजिक अन्तावरोध वहाँ भी दूर नहीं हो सका है। वह तो विश्व जनता की मुक्ति से ही संभव है। दूसरी बात यह है कि उत्पादन के साधनों में उन्नति के समानान्तर ही साहित्य और कला में उन्नति नहीं होती। सामाजिक और साहित्यिक विकास में घनिष्ठ सम्बन्ध और किंचित् समानान्तरता भी अवश्य है, किन्तु साहित्यिक श्रेष्ठता उत्पादन की उपलब्धि के स्तर की अपेक्षा सामाजिक यथार्थ और साहित्यकार के संबंध पर अधिक निर्भर करती है। इन दो कारणों को ध्यान में रखते हुए यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि सोवियत साहित्य ने स्वस्थ और सशक्त विषय वस्तु तथा सहज रूपविधान के क्षेत्र मे निश्चय ही उन्नति की है, विशेषतः कथा साहित्य के क्षेत्र में। अनुवादों के बल पर हम इतना ही कह सकते हैं। तीसरी बात यह है कि वहाँ अभी सामान्य जन-जीवन के निम्नतम साहित्यिक स्तर से काम शुरू हुआ है और क्रमशः जन-शिक्षा के माध्यम से उसे ऊपर उठाया जा रहा है। उस साहित्य को मध्यवर्गीय मानों से मापना अनुचित होगा। फिर भी चित्रकला के क्षेत्र में सोवियत भूमि ने इस समय के सभी देशों की कलाकृतियों को चुनौती दी है। चित्रकला की यह उन्नति उत्पादन के साधनों के अनुरूप ही है। वस्तुतः यांत्रिक उन्नति उन कलाओं के विकास में प्रत्यक्ष योग देती है, जिनके निर्माण में यांत्रिक साधनों का अपेक्षाकृत अधिक उपयोग होता है। साहित्य में ऐसा नहीं होता, इसलिये उसका विकास प्रायः परोक्ष और मंदतर होता है। यही कारण है कि उत्पादन के साधनों के अल्प-विकसित आदिम युग में भी ऋग्वेद, महाभारत, रामायण जैसी महान् काव्य कृतियाँ उत्पन्न हो गयीं और आधुनिक युग इतनी यांत्रिक उन्नति के बाद भी उस कोटिकी रचनाएँ न दे सका, क्योंकि यह औद्योगिक युग उस कोटिके सुघटित सामाजिक संगठन और परस्पर-सौहार्द्र की रक्षा न कर सका।

इसलिए सोवियत यूनियन में यदि साहित्यिक श्रेष्ठता सामाजिक विकास के अनुपात में कम हो, तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि समता और स्वतंत्रता पर आधारित समाज व्यवस्था का साहित्य अनिवार्यतः श्रेष्ठ नहीं हो सकता। श्रेष्ठ समाज में श्रेष्ठ साहित्य-रचना का सिद्धान्त सत्य है; परन्तु उसमें साहित्यकार की सामाजिक यथार्थ सम्बन्धी धारणा तथा शक्ति को भी ध्यान में रखना होगा। ऐसे सुविधा-प्राप्त समाज में यदि साहित्यकार, साहित्य-परम्परा

तथा शब्दशिल्प का अच्छा अभ्यासी है और जीवनानुभावों का जागरूक द्रष्टा है, तो निश्चय ही श्रेष्ठ कलाकृतियाँ दे सकता है।

सूर, तुलसी, प्रेमचन्द आदि महान् साहित्यकारों ने वर्ग समाज में रहते हुये भी, जो महान् कृतियाँ दी हैं, उसका कारण गरीबी नहीं, बल्कि समाजिक यथार्थ की सच्ची पकड़ तथा मानव जय के प्रति अदम्य विश्वास रहा है। इससे यह निष्कर्ष निकालना तर्क का दिवाला निकालना होगा कि गरीबी में ही महान् साहित्य की रचना हो सकती है। भूलना नहीं चाहिये कि गरीबी ने अनेक प्रतिभाओं को असमय ही पीस भी दिया। जिस तरह शकटार अपने पुत्रों का सत्तू खाकर महापद्मनन्द के अंध कारावास से प्रतिकार के लिये ऊपर उठा था, उसी प्रकार अपने युग की अनेक पीड़ित आत्माओं की नष्टप्राय शक्तियों के पुञ्ज को अपने में समेट कर उनके प्रतिनिधि-स्वरूप ये महाप्राण व्यक्ति ऊपर उठे थे।

इधर साहित्यकार के जीवन और साहित्य के अलगाव की भी बात उठाई जाती है और उसे सैद्धन्तिक रूप देने के लिए इलियट का वह सूत्र रखा जाता है कि कलाकार जितना ही पूर्ण होगा, उतना ही उसके भीतर भोगने वाले प्राणी और रचने वाली मनीषा का पृथक्त्व होगा। इस बात को यदि इतने ही तक लिया जाए कि साहित्यकार की अपनी रचना अपने व्यक्तिवाद के उभार का निषेध करे, तब तो ठीक है। कीट्स ने इसी बात को 'निगेटिव-कैपेबिलिटी' कहा है। तॉल्सत्वॉय चेखव प्रेमचन्द आदि माने हुये कथाकारों के चरित्र-चित्रण में यह विशेषता देखी जा सकती है। आज के उपन्यासकारों की तरह उनमें हर जगह 'निजीपन का आरोप' नहीं हैं। लेकिन उस सूत्र की आड़ में यदि यह कहा जाये कि साहित्यकार अपने जीवन में चाहे जिस विचार का हो, चाहे जिन राजनीतिक दलों से संबद्ध हो परन्तु अपने साहित्य में उससे भिन्न चित्रण कर सकता है तो गलत होगा। साहित्यकार 'अनजाने ही प्रगतिशील' होता है यह बात प्रगतिशील समीक्षकों की ओर से भी उठायी जाती है। प्रेमचन्द ने अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की प्रथम बैठक में यही कहा था कि साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। उसका मतलब यही है कि प्रेमचंद जी अपनी बात कह रहे थे और वे मानवहित के साथ इतने घुलमिल गये थे कि दूसरों के सम्बन्ध में अन्यथा सोच भी नहीं सकते थे और जो लोग 'अनजानी प्रगतिशीलता' की बात कहते हैं, उनके दिमाग में लेनिन द्वारा

की हुई तॉल्सत्वॉय की वह समीक्षा है, जिसमें तॉल्सत्वॉय को धार्मिक विचारों के बावजूद रूसी क्रान्ति का दर्पण कहा गया है। लेकिन ऐसे समीक्षक सामाजिक विकास के ऐतिहासिक सोपानों को भूल जाते हैं। तॉल्सत्वाय अथवा प्रेमचन्द के समय सामाजिक संघर्ष इतना तीव्र नहीं था और न साहित्यकार के सामने तीखे राजनैतिक मतवादों का निमंत्रण था। सामाजिक यथार्थ की समस्या भी उस समय इतनी गूढ़ न थी। फलतः वैज्ञाकि दृष्टिकोण के अभाव में भी प्रत्यक्ष जीवनानुभाव के बल पर वे महान साहित्यकार यथार्थ का अङ्कन कर गये। आज ऐसी स्थिति नहीं है। साहित्यकार अपनी वैयक्तिकता के प्रति इतना सचेत है कि यथार्थ पर उसका आरोप किये बिना नहीं चूकता। ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि उसके जीवन और साहित्य को तुलनात्मक रूप से देखा जाए। नित्य तीखे होते हुये सामाजिक संघर्ष में जिस तरह हवाई मानवतावाद का नारा नहीं चल सकता, उसी तरह 'अनजानी प्रगतिशीलता' का नारा भी धोखा है।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य में इस समय कलात्मक सौन्दर्य की प्राप्ति के लिए समीक्षकों और कृति साहित्यकारों के सम्मुख ये बातें स्पष्ट हो जानी चाहिए—

—रूपविधान पर विशेष बल देना गलत है।

—विषयवस्तु पर बल देना ही सही भूमिका है।

—विषयवस्तु पर बल देने का अर्थ है कलाकार द्वारा वास्तविक जगत् के यथार्थ का यथासंभव पूर्णतम और गहरा ज्ञान।

—यथार्थ का पूर्ण ज्ञान योग, समाधि और इलहाम से नहीं हो सकता। मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अध्ययनमात्र से भी नहीं हो सकता। किसी वैज्ञानिक दृष्टि अथवा विवेक के बिना सांसारिक संघर्षों मे इधर-उधर ठोकरें खाने से भी नहीं हो सकता। वैज्ञानिक सामाजिक दृष्टिकोण के साथ जीवन-संग्राम में सक्रिय भाग लेने से ही यथार्थ का पूर्ण और गहरा ज्ञान हो सकता है।

—इस परिवर्तमान परिस्थिति में 'अनजानी प्रगतिशीलता' का नारा काम नहीं दे सकता।

—स्पष्ट और सचित्र रूपविधान के लिए आवश्यक है कि यथार्थ की परख बहुत ठोस और स्पष्ट हो; सामान्य सिद्धान्तों के रूप में नहीं, बल्कि विशेष मानव-मूर्तियों और स्थितियों के रूप में हो।

—सामयिक यथार्थ का ज्ञान होना ही काफी नहीं है, बल्कि भावी स्वप्न का स्वरूप भी स्पष्ट रहना चाहिए, जिस पर उसकी आस्था हो।

—वर्तमान की परीक्षा और भविष्य की कल्पना के साथ साहित्यकार में अतीत की महान् साहित्यिक परम्परा का जीवित बोध और स्वायत्तीकरण भी होना चाहिए।

—साहित्यकार में वर्तमान, भविष्य और अतीत के साथ जितना घनिष्ठ सम्बन्ध (इंटीग्रिटी) होगा, उसकी रचना भी उतनी ही महान् होगी।

सामाजिक संकट और साहित्य •

अठारहवीं सदी के अन्त से जर्मनी की राजनीतिक और सामाजिक हालत बहुत खराब थी; फिर भी उसमें गेटे और शिलर जैसे महान साहित्यकार पैदा हुये। एंगेल्स के एक लेख से इस बात का हवाला देकर आज कुछ लेखक यह साबित करना चाहते हैं कि सामाजिक संकट साहित्य के विकास के लिए बाधक नहीं है। दिल के बहलाने को यह खयाल तो अच्छा है और इससे अपना साहित्यिक अहं भी तुष्ट हो जाता है। लेकिन फिर वही लेखक इस तरह 'अज्ञात भय से आकुल' क्यों हैं? क्यों वे 'दर्द से छटपटा' रहे हैं और क्यों है उनकी कविता में 'अंधा युग' तथा आलोचना में 'मूल्यगत संक्रमण' का इतना विलाप? वह ख़याल सच है या यह दर्द? प्रबल वह युक्ति है या यह वास्तविकता?

'आलोचना का गहन दायित्व' लेने के कुछ ही दिन बाद ५३ की जुलाई में आलोचना-मंडल ने एक साँस में साहित्यिक और सामाजिक दोनों गतिरोधों को नकारते हुए बड़ी शान से कहा कि उचित प्रतिभा होने पर गतिरोध नहीं है। स्वतन्त्र भारत की 'प्रजातांत्रिक पद्धति' में उन्होंने आस्था प्रकट की; चारों ओर आशा भरी दृष्टि फेंकी और बेफिक्र ढंग से कहा कि गतिरोध का प्रश्न ही क्या? हमें तो सब कुछ जीतना ही है, हारना कुछ भी नहीं।

चार महीने भी न बीते कि अक्तूबर की आलोचना में 'मूल्यगत संक्रमण' की ख़बर निकली। फिर तो सब कुछ इतनी तेजी से बदला कि साल ही भर के भीतर 'मूल्यहीनता', 'रहस्यवादी आस्था, 'वेदना और विनाशभय की मिली जुली भावनाओं' की चीख़ पुकार सुनाई पड़ने लगी। गतिरोध को नकारने वाले लोगों ने छाती पीट-पीटकर चिल्लाना शुरू कर दिया कि 'पूरे के पूरे देश और पूरे के पूरे साहित्यिक निकाय पक्षाघात से अशक्त होकर प्रगति और विकास की दिशाओं में भटक गए।' प्रजातांत्रिक आस्था काफूर हो गई और हाथ लगी रहस्यवादी आस्था! 'शाश्वत' साहित्य का आधार खिसक गया। न बदलने वाली भाषा भी बदल गई। जुलाई ५३ में आलोचना ने उर्दू के

लिए ख़तरे की घंटी बजाई और अप्रैल ५४ में अपनी ही भाषा को 'असमर्थ' और 'दूषित' कहना शुरू कर दिया। क्यों? क्या इतने ही दिनों में प्रतिभा ने साथ छोड़ दिया?

अप्रैल ५४ की 'आलोचना' इस पर प्रकाश डालते हुए कहती है कि इसका मूल हमारी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में है। वह स्थिति यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमारे राष्ट्र का सम्मान बढ़ रहा है और आलोचना-मंडल के लिए 'सबसे ख़तरनाक स्थिति' यही है। नौ महीने पहले जिन लोगों को 'भारत के बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीय महत्व' पर अभिमान था, उन्हीं लोगों को अब 'सत्कार की आँखों में तुच्छता की छाया' दिखाई पड़ने लगी। यह आलोचनात्मक दृष्टि की विशेषता है! लगता है जैसे इस बीच भारत ने कोई बहुत बड़ा अपराध कर दिया! विश्वशान्ति की स्थापना के लिए भारत जो प्रयत्न कर रहा है, आलोचना-मंडल को उससे बड़ी तकलीफ हो रही है। मारा घुटना फूटी आँख! चोट कहीं लगती है, दर्द कहीं उठता है!

मजेदार बात यह कि आलोचना-मंडल को मूल्यहीनता और प्रगति की दिशा से भटकने का एहसास उस वक्त हो रहा है जब युद्ध की आशंका काफी कम हो चली है और शान्ति की आशा पहले से कहीं अधिक है। इधर लोगों में संकट कटने की आशा बढ़ रही है और उधर आलोचना-मंडल का दर्द बढ़ रहा है। मतलब यह कि इनके दर्द का कारण विश्वशान्ति है।

विश्वशान्ति के 'ख़तरे' से चीख़ने वाले यूरोप और अमरीका में भी है और वहाँ से थोड़ी सी आह निकलती तो यहाँ कुहराम मच जाता है। फिर भी आलोचना के संपादक बार-बार यह कसम खाते रहते हैं कि 'योरपीय मध्यवर्ग या निम्नमध्यवर्ग की भाँति हूबहू हममें वह चारित्रिक अराजकता, अनास्था, व्यक्तित्व का बिखराव' नहीं आया है। यदि इनकी स्थिति योरपीय मध्यवर्ग की' सी नहीं हुई है तो कविता और आलोचना में ये भारतीय लेखक इलियट, स्पेंडर, केस्टलर वगैरह को ही हर जगह प्रतिध्वनित क्यों करते रहते हैं? उन-से नहीं हैं, फिर भी उन्हीं की आवाज निकालते हैं। बात बोलेगी हम नहीं।

गरज़ कि एंगेल्स की आड़ लेने के बावजूद आलोचना-मंडल ने अपने साहित्य के संकट और उस संकट के सामाजिक कारण का इजहार कर दिया। ज़ाहिर नहीं किया तो केवल यह कि सामाजिक संकट साहित्य के विकास में किस तरह बाधा देता है और सामाजिक संकट में भी साहित्य की पताका झुकने

न देने के लिए साहित्यकार को क्या करना पड़ता है? लेकिन उनके जाहिर न करने से ही इन बातों पर पर्दा नहीं पड़ जाता। एंगेल्स के उस लेख में ही उन्हें पर्दाफ़ाश करने की काफी सामग्री है। अफसोस, उन्होंने एक ख़तरनाक आदमी की आड़ ली!

एंगेल्स का कहना है कि ह्रास युग में भी गेटे और शिलर जैसे महान साहित्यकार इसलिए हुए कि उन्होंने संपूर्ण जर्मन समाज की तत्कालीन स्थिति के विरुद्ध विद्रोह की आवाज उठाई। लेकिन सामाजिक ह्रास का प्रभाव इतना जबर्दस्त था कि उमर ढलने के साथ ही इन महान लेखकों में निराशा बढ़ने लगी। एंगेल्स ने बड़े अफसोस के साथ लिखा है कि श्रेष्ठ और सबसे शक्तिशाली बुद्धि वाले मनीषियों ने भी अपने देश के भविष्य की सभी आशाएँ छोड़ दीं।*

इससे स्पष्ट है कि साहित्य पर सामाजिक संकट का बड़ा घातक असर पड़ता है। जवानी की उमंग में गेटे और शिलर ने जो विद्रोह और उद्दाम प्रेम की रचनाएँ कीं, वे शीघ्र की परिस्थितियों की चपेट से दब गईं। अपने युग के गहरे विषाद से ऐसे महान व्यक्तित्व भी न बच सके। यदि सामाजिक संकट का प्रभाव साहित्य और संस्कृति के लिये इतना घातक न होता तो मार्क्स और एंगेल्स पूँजीवादी व्यवस्था को ख़त्म करने के लिए अपना सारा जीवन क्यों लगा देते? मार्क्स-एंगेल्स ने एक बार नहीं, अनेक बार कहा है कि पूँजीवादी व्यवस्था कला और कविता के लिए घातक है। और यह तथ्य ऐसा है जिसे मार्क्स-एंगेल्स को न मानने वाले लेखकों ने भी स्वीकार किया है। आलोचना-मंडल के गुरु प्रतीक-संपादक अज्ञेय में तो इतनी 'ईमानदारी' है कि "व्यक्तित्व के टुकड़े कर देने वाली पूँजीवादी जीवन-व्यवस्था, हमारी जिजीविषा के टुकड़े नहीं कर पाती यह, सही है, परन्तु उसे व्यर्थ कर देती है।" स्वीकार कर लें, लेकिन शिष्य मंडली में इतनी अधिक आस्था है कि वह सामाजिक ह्रास के प्रभाव को कत्तई इनकार करती है! गोया सारा का सारा दर्द, संशय, निराशा, यौन-कुण्ठा, प्रभु की पूजा वगैरह आसमान से बरसे हैं। इतनी वेदना और ऐसी अश्लीलता समूचे साहित्य में आज से पहले शायद ही कभी व्यक्त हुई

*मार्क्स एंड एंगेल्स: लिट्रेचर एंड आर्ट, पृ० १८-१९ (करेंट बुक हाउस बम्बई, १९५२)

हो ! लेकिन 'आस्थावादी' लेखक हैं कि इसी को साहित्य का गौरव समझते हैं। सामाजिक ह्रास का सबसे खतरनाक असर संभवतः यही है जब लेखक अपनी कमजोरियों को ही गौरव देने लगता है।

गेटे और शिलर की महत्ता इस बात में है कि उन्होंने उस ह्रास-युग के फलस्वरूप अपने भीतर प्रतिविम्बित होनेवाली कमजोरियों के विरुद्ध संघर्ष किया। वे अपनी निराशा और वेदना के लिए महान नहीं हैं, बल्कि उस जीवंत शक्ति के लिए महान है जो नैतिक-सामाजिक स्तर पर स्वस्थ-पवित्र जीवन के लिए लड़ रही थी। अस्वस्थ प्रवृत्तियों के विरुद्ध स्वस्थ प्रवृत्तियों का यह संघर्ष केवल उन्हीं दो व्यक्तियों के भीतर नहीं था बल्कि उस युग के अनेक विचारकों के भीतर चल रहा था और बहुत बड़े पैमाने पर किसी-न-किसी रूप में वह संघर्ष संपूर्ण जर्मनी में मौजूद था। यह असंतोष और संघर्ष गेटे और शिलर की 'शुद्ध' प्रतिभा की उपज न थी। एक हद तक वह तत्कालीन सामाजिक संघर्ष का प्रतिबिम्ब था। अपने युग की ह्रास-भावना के विरुद्ध लेखक के मन में असंतोष तभी पैदा होता है जब समाज के किसी-न-किसी स्तर अथवा एकदम निचले स्तर में उसके प्रति कुछ असन्तोष हो।

उदाहरण के लिए हम अपने हिन्दी साहित्य के दो युगों को लें। एक भक्तिकाल, और दूसरा रीतिकाल। यदि राजनीतिक दृष्टि से देखें तो दोनों ही कालों में मुगल बादशाहों का शासन था। सामाजिक ढाँचे में भी कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ था। फिर भी भक्तिकाल के कवि हैं कि उन्होंने प्राकृत-जनों का गुण गाने से इनकार कर दिया और रीतिकाल के कवि अपने आश्रयदाता राजाओं को रिझाने में लगे रहे। भक्तों ने लौकिक प्रेम के चित्रण में अलौकिक गरिमा भर दी और रीतिकाल के कवियों ने उसमें दरबार का दाग़ लगा दिया। भक्त कवि तो जाति-बरन, ऊँच-नीच-भेद भरे कलिकाल के खिलाफ अपने भगवान् से शिकायत करते हुए आँसुओं का अर्घ्य चढ़ाते रहे और रीतिकालीन कवि राग-रंग में मस्त रहे।

इसका क्या जवाब है? क्या बिहारी, देव, केशव, मतिराम वगैरह में कबीर, जायसी, सूर, तुलसी इत्यादि से प्रतिभा कम थी? प्रतिभा के आधार पर इस सवाल का बुद्धिसंगत जवाब देना संभव नहीं है। रीतिवादी कवियों को कलिकाल से असंतोष नहीं हुआ तो यह उनकी कम प्रतिभा का परिणाम है या दरबारदारी का? दरबारों तक दुःख की पुकार पहुँचती ही कब थी? दूसरी ओर संत और भक्त थे जिन्हें गाँवों में होनेवाले अत्याचार तथा उन अत्याचारों के

विरुद्ध उठनेवाले असन्तोष का प्रत्यक्ष अनुभव था। कलिकाल का अत्याचार अपने नग्न रूप में उनके सामने था और साथ ही असन्तोष की वह दबी हुई आग भी प्रत्यक्ष थी। इसीलिए उनकी कविता में वेदना के मार्मिक स्वर के बीच मानव की असन्तुष्ट मानवता फूट पड़ी है। तात्पर्य यह कि संकटकाल में भी श्रेष्ठ साहित्य उस समय उत्पन्न होता है जब समाज में उस संकट के विरुद्ध असन्तोष का बीज हो। इस असन्तोष को लोकजीवन से जितना ही बल प्राप्त होता है, उसमें उतना ही ओज आता है और साहित्य का स्वर उतना ही ऊँचे उठता है। सन्त-भक्ति युग में सन्तों के असन्तोष के पीछे लोक-जीवन का यही नैतिक बल था।

इतिहास से इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि आरम्भिक मुगल बाद-शाहों—विशेषतः अकबर के प्रयत्न से उत्तर भारत में व्यापार और खेती सम्बन्धी ऐसे बहुत से कार्य हुए जिससे गाँव का आपसी बिलगाव कम हुआ और जातीय जीवन की नींव पड़ी, साथ ही सदियों की लूटपाट के बाद देश में कुछ शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित हुई। भक्ति काव्य की उत्कृष्टता देश की इस समृद्धि से भी जुड़ी हुई है। इन परिस्थितियों ने लोकजीवन में अपने पुराने अत्याचारों के विरुद्ध असन्तोष का भाव जगाने की दिशा में काफी काम किया। भक्ति काव्य में लोकजीवन की इसी विजय का उद्घोष है।

यह लोकजागरण इसी तरह समय-समय पर ऊपरी स्तर को सहारा दिया करता है। अंग्रेजी राज के दिनों में जब देश पर राजनीतिक और आर्थिक अत्याचार तीखा हो रहा था, प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, और पंत जैसे साहित्यकारों ने साहित्य की गौरवशाली पताका ऊँची रखी। पराधीनता के युग में भी हमारे साहित्यकारों ने साहित्य को पराधीनता का शिकार नहीं होने दिया, उसके पीछे उनके अपने व्यक्तित्व के बावजूद जनता का महान जागरण भी था। इस जन-जागरण के अभाव में पचास साल पहले भारतेन्दु जैसे महान प्रतिभाशाली साहित्यकार भी यथेष्ट कार्य न कर सके!

इसका अर्थ यह नहीं है कि राजनीतिक और आर्थिक पराधीनता का घातक प्रभाव हमारे साहित्य पर नहीं पड़ा। छायावादी कविता में जो निराशा, वेदना, पलायनवाद वगैरह दिखाई पड़ते हैं वे पराधीनता के प्रभाव नहीं तो क्या हैं? मध्ययुग की ह्रासशीलता ने यदि भक्ति काव्य में लौकिक दुःख को उलटकर अलौकिक बना दिया और इस तरह काव्य के स्वर को और भी गीला कर दिया तो आधुनिक युग की पराधीनता ने रहस्यवाद और निराशावाद की

सृष्टि की। इस प्रकार ह्रास युग के श्रेष्ठ साहित्य में भी मलिनता की छाया दिखाई पड़ती है। समकालीन ह्रासोन्मुख वातावरण से संसार का श्रेष्ठ से श्रेष्ठ साहित्य भी मुक्त नहीं है। यदि हम अपने युग के हिन्दी साहित्य से उदाहरण लें तो पायेंगे कि जागरूक से जागरूक लेखक भी 'सेक्स' के किसी-न-किसी प्रकार के चित्रण से नहीं बच सका है। इतनी पैनी सामाजिक दृष्टिवाले यशपाल भी 'सेक्स' संबन्धी विकृतियों में प्रायः फँस जाते हैं। यदि नैतिक संयम नहीं तो कला का कठोर संयम स्वीकार करनेवाले अज्ञेय भी 'नदी के द्वीप' में इस उफ़ान को नहीं दबा सके। यह सामाजिक ह्रास के मलिन प्रभावों में से एक है।

ह्रास युग में भी श्रेष्ठ साहित्य इसलिए सम्भव होता है कि संपूर्ण मानव समाज का एक साथ ही ह्रास नहीं हो जाता; विकास का बीज ह्रास के तल में कहीं-न-कहीं मौजूद रहता है। विकास की स्थिति यदि संसार के किसी कोने में मौजूद हो तो भी उसका असर पड़ के रहता है। विकास का यह बीज सामान्यतः जनता के जीवन में होता है। ह्रास युग के श्रेष्ठ साहित्य की श्रेष्ठता का मूल स्रोत यही लोकजीवन है। ऊपरी स्तर की ह्रास भावना यदि साहित्य को मलिन करती है तो निचले स्तर में दबी हुई जनता उसे संजीवन रस प्रदान करती है। परन्तु प्रायः ऐसा होता है कि ऊपरी स्तर के विषाक्त प्रभाव से सारा वातावरण इतना गंदा हो जाता है कि साहित्यकार नीचे छिपी हुई संजीवनी शक्ति तक नहीं पहुँच पाते। ऐसा सामान्यतः होता है। विशेष स्थिति में ही साहित्यकार उस वातावरण को भेदकर शक्ति और सौन्दर्य के मूल उत्स तक पहुँचता है। साहित्यकार को यह प्रेरणा कभी-कभी अपने देश के बाहर किसी अन्य देश के नव-जागरण से भी मिलती है। उदाहरण के लिए आजके अनेक हिन्दी साहित्यकार चीन और सोवियत यूनियन के महान जनजागरण से प्रेरित होकर अपने देश की जनशक्ति से साहित्य के लिए संजीवन रस प्राप्त कर रहे हैं।

जिस प्रकार संसार के अन्य देशों का सामाजिक ह्रास किसी देश के विकासशील वातावरण को भी प्रभावित किये बिना नहीं रहता, उसी तरह देशान्तर का सामाजिक विकास किसी देश की ह्रास-दशा में भी शक्ति का संचार करता है। परन्तु आज के युग में भी ऐसे लेखक हैं जो इस तथ्य को कतई इनकार करते हैं। एक ओर यदि चीन और सोवियत यूनियन की जनता के महान कार्यों से उन्हें प्रेरणा नहीं मिलती तो दूसरी ओर अमरीका और योरप का सामाजिक संकट भी उनके लिए 'बौद्धिक स्थिति मात्र' है। प्रेरणा न लेना

चाहें तो वे न लें लेकिन अमरीका और योरप के सामाजिक संकट का घातक असर वे कैसे छिपा सकते हैं। निहुरे-निहुरे भी कहीं ऊँट की चोरी हुई है? यह तो उनकी रचनाएँ ही बताती हैं कि योरप का संकट हिन्दी के इन लेखकों के लिए 'बौद्धिक स्थिति मात्र' है कि 'भावावेश की परिस्थिति'। सामाजिक संकट के घातक प्रभाव को स्वीकार करना निराशावाद नहीं है। यदि वस्तुस्थिति को पहचानना ही निराशावाद है तो यह निराशावाद उस आशावाद से कहीं अच्छा है जो वस्तुस्थिति से आँख मूँदता है। ऐसे आशावाद का सही नाम पलायनवाद है। परन्तु जहाँ जीभ पर आशा और दिल में निराशा हो वह आत्मप्रवंचना है और यह पलायनवाद से भी ख़तरनाक है। ऐसी प्रवंचना से श्रेष्ठ साहित्य नहीं रचा जाता।

श्रेष्ठ साहित्य मन का लड्डू नहीं है कि जब जी चाहा बना लिया। श्रेष्ठ तो श्रेष्ठ, साहित्य-मात्र किसी की स्वेच्छा पर निर्भर नहीं है। जब जैसा जी हुआ वैसा साहित्य कोई नहीं रच सकता। वह एक निश्चित परिस्थिति में और एक निश्चित परिस्थिति से पैदा होता है और यह परिस्थिति उसकी स्वेच्छा को मर्यादित करती है—यहाँ तक कि उसके विद्रोह को भी। परिस्थिति के विरुद्ध लेखक का विद्रोह भी उस परिस्थिति के द्वारा निर्धारित होता है। यह लेखक की ऐतिहासिक सीमा है। मन के लड्डू खाने की अपेक्षा अपनी ऐतिहासिक सीमा को समझने और समझ कर बदलने की कोशिश करने में कहीं अधिक स्वाद है।

———

समाज और साहित्य के बीच की कड़ी : लेखक का व्यक्तित्व •

समाज और साहित्य के सम्बन्ध की चर्चा चलाते हुए अक्सर लोग इस तरह बात करते हैं गोया समाज अपने आप साहित्य हो जाता है। जो लोग साहित्य को समाज की छाया मानते हैं उनकी बातचीत से भी ऐसा मालूम होता है कि यह छाया अपने आप पड़ती है। समाज और समाज की छाया (साहित्य) के बीच यदि कभी किसी तीसरी चीज का नाम लिया जाता है तो वह है 'साहित्य का अपना नियम'। लेकिन इस नियम का प्रवेश तब कराया जाता है जब समाज की उस छाया में अत्यन्त विकृति दिखाई पड़ती है। फिर भी सवाल यह है कि साहित्य का यह 'अपना नियम' साहित्य से अलग कोई तीसरी चीज कैसे मान ली जाय? 'साहित्य की छाया में विकृति उत्पन्न होती है साहित्य के अपने नियम से' यह कहने का मतलब है कि साहित्य पैदा होता है साहित्य से। नियम की सत्ता यदि स्वतन्त्र मान भी लें तो सवाल उठता है कि यह नियम कहाँ से पैदा होता है। इसका जवाब स्याद् अवक्तव्यं च! उनमें इतनी भी चेतना नहीं है कि इस नियम को अपनी बुद्धि से उत्पन्न बता सकें। इससे बड़ी विडम्बना और क्या होगी कि लेखक के व्यक्ति-स्वातंत्र्य का ढोल पीटनेवाले लोगों को समाज और साहित्य के बीच स्वयं अपने ही अस्तित्व का बोध नहीं है। व्यक्तित्व याद आता है समाज के विरुद्ध या फिर साहित्य के विरुद्ध लेकिन जब समाज और साहित्य दोनों ही आमने-सामने आ जाते हैं तो दो पाटों के बीच में वे काया बदल कर 'नियम' बन जाते हैं। बकौल आलोचना-मण्डल यह मार्क्सवादी समीक्षा है जिसका सर्वथा बहिष्कार 'उसकी कम्यूनिस्ट परिणति' में मिलता है लेकिन दरअसल यह है मार्क्सवादी समीक्षा की 'आलोचनावादी' परिणति!

'मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्यूनिस्ट परिणति' के अनुसार समाज और साहित्य के बीच की महत्वपूर्ण कड़ी है लेखक का व्यक्तित्व। 'साहित्य के रूप में समाज की जो छाया प्रकट होती है वह लेखक के व्यक्तित्व के ही

माध्यम से आती है। साहित्य के निर्माण में इस बीच की कड़ी—लेखक के व्यक्तित्व का बहुत महत्व है और इस महत्व की महत्ता इस बात में है कि एक ओर इसका संबंध समाज से है तो दूसरी ओर साहित्य से। साहित्य रचना की प्रक्रिया में समाज, लेखक और साहित्य परस्पर एक दूसरे को इस तरह प्रभावित करते हैं कि इनमें से प्रत्येक क्रमशः परिवर्तित और विकसित होता रहता है—समाज से लेखक, लेखक से साहित्य और साहित्य से पुनः समाज।*

फिर भी कुछ लेखकों का ख़याल है कि मार्क्सवादी समीक्षा में लेखक के व्यक्तित्व का महत्व स्वीकार नहीं किया जाता क्योंकि 'लेखक के व्यक्तित्व' से उनका अपना जो मतलब है उसे मार्क्सवादी स्वीकार नहीं करता। स्वयं वे लेखक के व्यक्तित्व को कितना महत्व देते हैं इसका सबूत यह है कि साहित्य की श्रेष्ठता का सारा श्रेय या तो लेखक की 'प्रतिभा' को देते या फिर 'साहित्य के अपने नियम' को। 'प्रतिभा' या तो जन्मजात वस्तु है या फिर ईश्वरीय देन और साहित्य का नियम भी कुछ ऐसी ही शाश्वत, सनातन, सार्वभौम पदार्थ है। इस तरह लेखक की रचना की श्रेष्ठता का सारा श्रेय किसी ईश्वरीय सत्ता को है फिर उसमें लेखक के अपने व्यक्तित्व का क्या महत्व? मनुष्य की अपनी उपार्जित शक्ति का ऐसा घोर अपमान और फिर भी व्यक्तित्व की तरफ़दारी करने का स्वाँग! जो मनुष्य की अपनी शक्ति में विश्वास नहीं करता, वह चाहे दैवी शक्ति का ही विश्वासी क्यों न हो वस्तुतः मानव-विरोधी है।

प्रतिभा को कुछ लोग लेखक की अपनी निजी साधना का परिणाम मानते हैं। उनके अनुसार रचना की श्रेष्ठता का कारण लेखक का अपना बुद्धिवैभव है। ऐसी हालत में एक बार आ जाने पर इस बुद्धिवैभव को हमेशा श्रेष्ठ साहित्य की रचना करते जाना चाहिये। लेकिन जैनेन्द्र, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा जैसी प्रतिभाओं को अचानक क्या हो गया कि उनकी रचनाओं में निरन्तर ह्रास ही दिखाई पड़ रहा है। यदि लेखक की प्रतिभा स्वयं उसी के भीतर की एकदम अपनी चीज है तो इन लेखकों की वह शक्ति आज भी क्यों नहीं प्रकट होती? इसका मतलब यह है कि वह रचना-शक्ति अब या तो क्षीण हो गई या तो समाप्त हो गई। क्या यह केवल उम्र का परिणाम है? यदि उम्र

---

*देखिए मार्क्सिस्ट क्वार्टर्ली मिसेलेनी नं०१ में 'दैट पैरालाइज़िंग एपेरीशन ब्यूटी' निबंध।

ढलने से पहले ही लेखक की शक्ति क्षीण होती है तो रवीन्द्रनाथ की भी शक्ति उम्र के साथ क्यों नहीं क्षीण हो गई ? यदि यह कहें कि उनके पास अब कुछ कहने को सामग्री नहीं है तो जाहिर है कि सामग्री के स्रोत से वे कट गये हैं और जिसे प्रतिभा अथवा रचना-शक्ति कहा जाता है वह लेखक के भीतर से स्वतः पैदा होनेवाली चीज नहीं बल्कि कहीं अन्यत्र से ग्रहण की हुई संपदा है। इस संपदा के अभाव में भी सिद्धहस्त लेखक कुछ दिनों तक पुरानी सामग्री को नये-नये ढङ्ग से सजाकर उपस्थित करता रहता है जैसा कि जैनेन्द्र आजकल कर रहे हैं। लेकिन पुरानी सामग्री का यह कारोबार ज्यादा दिन तक नहीं चल सकता। ऐसी रचनाओं में वर्षों के अभ्यास का कौशल कहीं-कहीं झलक सकता है लेकिन समूची रचना निर्जीव मालूम होती है।

जो अहंवादी लेखक अपनी स्वयंभू रचना शक्ति के भरोसे असमय ही एकांत भजने लगते हैं उनकी दशा आज के अनेक प्रयोगवादी कवियों की तरह हो जाती है। नतीजा यह होता है कि कविता में या तो दर्द ही दर्द रहता है या फिर दर्द भरी दुरूह पहेलियाँ ! लिखते ये जरूर रहते हैं लेकिन वह लिखना ही इन्हें धीरे-धीरे कुतरता जाता है। जैसे बिना चारा के मशीन या बिना झोंक के जाँता चलाये जाने पर स्वयं अपने ही को खाता रहता है, उसी तरह ये अपना ही विनाश किये जा रहे हैं। वस्तुतः साहित्य-रचना के साथ सबसे बड़ी मुसीबत यही है कि पाठक पर असर डालने के पहले वह स्वयं लेखक और उसकी कलम पर असर डालती है। निराशावादी रचना किसी और को निराश बनाने से पहले अपने लेखक को ही कुंठित कर देती है। घना-नन्द ने जब कहा था कि 'मोंहि' तौ मेरे कबित्त बनावत' तो उनका अभिप्राय कुछ ऐसा ही था। गरज़ कि रचना की शक्ति को अपने आप तक ही सीमित करके लेखक खुद अपना ही नुक़सान करता है। ऐसी धारणाओं को यह कहकर तरह नहीं दिया जा सकता कि इसके मानने, न मानने से कुछ नहीं होता। अन्ततोगत्वा लेखक पर इनका असर पड़ता है।

अपनी शक्ति के वस्तुगत श्रोत का निषेध करके अपने आप को ही रचना में समर्थ माननेवाले लेखक थोड़े ही दिन बाद काल्पनिक साहित्य गढ़ते दिखाई पड़ते हैं। कहने के लिए जब कुछ वास्तविक नहीं रहता तो सब कुछ अपने दिमाग़ से गढ़ने लगते हैं। इलिया एहरेनबुर्ग के शब्दों में ऐसे लेखक 'स्वप्नों की फैक्ट्री' बन जाते हैं। लेकिन स्वप्नों की यह फैक्ट्री भी वास्तविक

खुराक़ के बिना ज्यादा दिन तक नहीं चलाई जा सकती। सपने गढ़ने की भी एक सीमा होती है। कहते हैं कि तिलस्मी और ऐय्यारी का सपना गढ़ते-गढ़ते अंत में बाबू देवकीनन्दन खत्री पागल हो गये और देखते हैं कि कल्पना के कोमल कवि पंत जी की 'सपनों की फैक्ट्री' भी अब जवाब दे रही है।

मतलब यह कि लेखक के व्यक्तित्व को अपने आप में पूर्ण मान लेना गलत है। इस तरह वह व्यक्तित्व जड़ हो जाता है जब कि व्यक्तित्व विकासशील तत्व है। साहित्य-रचना में जब हम लेखक के व्यक्तित्व का महत्त्व स्वीकार करते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह स्वयंभू और सर्वोपरि है। साहित्य के सामान्य धरातल से सहसा कोई महान साहित्यकार ऊपर उठता दिखाई पड़ता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह जन्म से ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा लेकर आया था। किसी विशेष व्यक्तित्व का सहसा ऊपर उठना वस्तुतः आकस्मिक नहीं है। हमें वह आकस्मिक प्रतीत होता है। आकस्मिक इसलिए प्रतीत होता है कि हम उन तत्वों को नहीं जानते जिनसे अब तक उसके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। हम तो उसकी कृति को ही सहसा देखते हैं; उस कृति के पीछे लगी हुई साधना से हम प्रायः अपरिचित रहते हैं। इस प्रकार किसी विशिष्ट व्यक्तित्व का उत्थान आकस्मिक नहीं है, आकस्मिक है उसका हमारी दृष्टि में आना। यह विस्मय बहुत कुछ ऐसा ही है जैसे कोई अपने बच्चे को बचपन के बाद बारह वर्ष पर देखे और चौंक जाय।

महान साहित्यकारों में औरों से जो विशेषता दिखाई पड़ती है उस पर चकित होने की अपेक्षा समझने की कोशिश की जाय तो अधिक आनन्द आता है। समझने में चौंकने की अपेक्षा हमेशा अधिक आनन्द है। विशेषता को समझने के लिए हमें सामान्य से पहले विशेष पर आना चाहिए। अभी-अभी एकदम एक नये लेखक फणीश्वरनाथ रेणु का उपन्यास 'मैला आँचल' निकला है। उपन्यास पढ़ते ही कौतुकी लोग चौक उठे और विस्मयादि बोधक स्वर में 'प्रतिभा प्रतिभा' चिल्लाने लगे। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक भविष्यवाणी कर दी कि रेणु अब ऐसी अथवा इससे अच्छी रचन ना कर सकेंगे। इनके कहने से भी ऐसा ही लगता है गोया यह कृति अचानक बन पड़ी है! परन्तु रेणु का यह उत्थान क्या सचमुच आकस्मिक है? संयोग से रेणु ने इससे पहले भी कुछ-एक कहानियाँ छपाई थीं लेकिन उनमें कुछ खास नहीं था जिससे लोग इस तरह आकृष्ट हों। इससे इतना तो पता चलता ही है कि 'मैला

आँचल' से पहले रेणु ने और भी चीजें लिखीं और वे उतनी अच्छी नहीं बनीं।

अब स्वयं 'मैला आँचल' को ही लें। लेखक ने इसमें मिथिला के एक गाँव का सर्वांगीण जीवन इतने सजीव रूप में उपस्थित किया है कि हम दङ्ग रह जाते हैं। यही है रेणु की विशेषता क्योंकि रेणु से पहले किसी अन्य व्यक्ति ने यह कार्य इतनी सफलता से नहीं किया था। लेकिन रेणु से पहले क्या किसीने इस दिशा में कार्य नही किया था? हम जानते हैं कि नागार्जुन इस तरह के कई उपन्यास लिख चुके थे और 'मैला आँचल' से पहले आंचलिक कथा साहित्य की प्रवृत्ति का वातावरण बन चुका था अथवा बन रहा था। तात्पर्य यह है कि रेणु का आविर्भाव एक निश्चित ऐतिहासिक परिस्थिति का परिणाम है। इसी तरह हर लेखक की प्रतिभा एक निश्चित परिस्थिति और परम्परा की उपज होती है।

लेखक की विशेषता उस परिस्थिति को ठीक से समझने और समझ कर बदलने में है। रेणु की विशेषता यही तो है कि उसने मिथिला के ग्रामीण जीवन को औरों से अधिक अच्छी तरह समझा है और समझ कर उसे साहित्य में बदल दिया है। सवाल यह है कि उन परिस्थितियों को इस एक लेखक ने ही इतना क्यों समझा? ज़ाहिर है कि औरों की अपेक्षा वह इन परिस्थितियों को समझने की स्थिति में अधिक था। लेकिन स्वयं उस गाँव के रहनेवाले किसान तो लेखक से अधिक उस परिस्थिति में हैं फिर भी उन्होंने अपनी स्थिति को इस तरह समझकर 'उपन्यास' क्यों नहीं लिखा? क्योंकि वे खेती करते हैं और उन्हें इतनी फ़ुरसत और सुविधा नहीं है कि अपनी बुद्धि का विकास इस दिशा में कर सकें। मेहनत और पेशा का बँटवारा हो जाने के कारण लेखक ने सोचने-विचारने तथा पढ़ने-लिखने के क्षेत्र में अपना विशेष विकास कर लिया है। मतलब यह है कि रेणु में किसानों से जो विशेषता है वह तो श्रम-विभाजन का परिणाम है और दूसरे लेखकों से जो विशेषता है वह उस विशेष परिस्थिति में रहने की।

अधिक समझने की समस्या फिर भी रह जाती है। अक्सर एक ही परि-स्थिति में, एक ही पेशे के दो लेखक काम करते हैं फिर भी एक लेखक को दूसरे से अधिक सफलता मिल जाती है। यदि दोनों की सम्पूर्ण जीवनचर्या का ब्यौरा प्राप्त हो तो पता चलेगा एक कि सफलता के पीछे उसका सारा जीवनचरित

और जीतोड़ मेहनत है। समाज के इतिहास के बीच प्रत्येक व्यक्ति का एक अपना भी इतिहास है; व्यक्ति व्यक्ति के आपसी सम्बन्धों का ताना बाना विविध प्रकार के व्यक्तित्वों का निर्माण किया करता है। एक व्यक्ति जितने लोगों के सम्पर्क में आता है, वे सब-के-सब किसी दूसरे व्यक्ति के सम्पर्क में नहीं आते और यदि इत्तफ़ाक से ऐसा हो तो भी सबके साथ उसका एकदम वैसा ही सम्बन्ध नहीं हो सकता। सम्बन्धों की यह विविधता, घनिष्ठता और जटिलता की जानकारी व्यक्तित्वों में विभिन्नता और विशिष्टता पैदा करती रहती है। किसी व्यक्ति से जुड़े सम्बन्धसूत्रों का नाम ही उसका जीवनचरित है—इनके निर्माण में उसकी स्वेच्छा और प्रयत्न का पूरा दखल है। वह चाहे तो अपने इस व्यक्तिगत इतिहास को बदल भी सकता है और न चाहे तो जड़ होने से उसे कौन रोकनेवाला है।

अक्सर देखते हैं कि अलग अलग गाँवों से शहर में पढ़ने के लिए युवक आते हैं और पढ़ते-लिखते कुछ लिखने भी लगते हैं। इस तरह लिखने की कोशिश करनेवाले कुछ नये लेखक एक जगह मिलने लगते हैं। कुछ दिनों में मिलने जुलने के लिये इन लेखकों को बस वही रोज़वाले दोस्त रह जाते हैं। नतीजा यह होता है कि अपने साथ लाई हुई विशेषता की पूँजी ख़तम हो जाती है और धीरे-धीरे मंडली के सभी लिक्खाड़ एक-से हो जाते हैं। ख़ुदा-न-ख़ास्ता उनके बीच कोई ज्यादा चलता-पुर्ज़ा आदमी निकल आया और इस तरह अपनी मंडली में बीस हो गया तो बाक़ी सब उसी की नकल में परेशान! फिर भी उन सबके बीच उन्नीस-बीस से ज्यादा फ़र्क नहीं होता। उनका बोलना एक-सा, लिखना एक-सा, सोचना एक-सा, यहाँ तक कि धीरे धीरे उनकी अनुभूतियाँ और रुचियाँ भी एक-सी होने लगती हैं। आज की बहुत सी रचनाओं में इस गोष्ठी-जनित एकरसता का दर्शन अक्सर होता रहता है। सामाजिक सम्बन्धों को सीमित कर लेने से व्यक्तित्व की विशेषता किस प्रकार नष्ट होती है, इसका यह ज्वलंत उदाहरण है।

तात्पर्य यह कि लेखक की विशिष्टता उसकी व्यक्तिगत इकाई के अतिरिक्त अधिकांशतः उसके सम्बन्धों और सम्बन्धों की समझदारी पर निर्भर है। इस तरह लेखक के वैयक्तिक वैशिष्ट्य के वस्तुवादी आधार पर जोर देकर हम अधिक रचनात्मक काम कर सकते हैं। व्यक्तित्व की वस्तुवादी व्याख्या से लेखक को आत्म-विकास की दिशा मिलती है। व्यक्तित्व की वस्तुवादी व्याख्या का प्रयो-

जन यह है कि महान लेखकों की तथा कथिक 'प्रतिभा' या 'विशिष्टता' को भी बुद्धि से समझा जा सकता है और यदि धैर्य के साथ उसके विविध सम्बन्ध सूत्रों की छान बीने की जाय तो बुद्धि संगत कारणों का पता भी चल सकता है। इस तरह की कोशिश करके हम मानव बुद्धि की क्षमता की ओर ही संकेत करते हैं। इससे किसी के विस्मय का आल्हाद भले ही कुछ कम हो जाय और किसी की आँखों का सुखद रहस्यवादी पर्दा भले ही फट जाय लेकिन मानव बुद्धि का अपमान तो नहीं होता। प्रतिभा की वस्तुवादी व्याख्या से कुछ 'प्रतिभावान' लोगों को अपनी प्रतिभा के पर्दाफाश होने की चाहे जितनी तकलीफ़ हो लेकिन सचमुच प्रतिभावान लेखक आत्म विकास भी कर सकते हैं।

तात्पर्य यह कि परिस्थितियों को समझने और समझ कर बदलने की कोशिश में ही व्यक्तित्व का विकास होता है। परिस्थिति में सभी तत्व व्यक्तित्व के लिए, साधक के लिए प्रयत्नशील नहीं होते; कुछ बाधक तत्व भी होते हैं। इन बाधक तत्वोंको समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील लेखक का व्यक्तित्व लोगों की निगाह में ऊँचे उठता है। आग की चिनगारियाँ टक्कर से ही छिटकती हैं। व्यक्तित्व विरोधी तत्वों से लड़ने में लेखक अकेला नहीं है—उसकी समझदारी इस बात में है कि अपनी सहयोगी जनशक्ति को पहचान ले। जनशक्ति का सहयोग न लेने वाला अकेला लेखक जल्द ही टूट सकता है। संघर्ष से छिटकी चिनगारी भी जलने के लिए तिनके का सहारा चाहती है और सहारा न मिलने पर बुझ जाती है। अकेला लेखक दियासलाई की उस सलाई की तरह है जो टकराकर थोड़ी देर तो जलती है लेकिन आधार के अभाव में बुझ जाती है।

इस बात को हम इस प्रकार कहते हैं कि लेखक अपने व्यक्तित्व के माध्यम से समाज को साहित्य का रूप देता है। जो लेखक समाज के प्रति कुछ जागरूक हैं वे तो इस तथ्य को स्वीकार करते हैं लेकिन कुछ लेखक इतने फक्कड़ होते हैं कि अपने व्यक्तित्व के माध्यम से समाज की अभिव्यक्ति को अपने व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति समझते हैं। कोई जरूरी नहीं है कि ऐसे लेखक हमेशा समाज से कटे हुए सर्वथा व्यक्तिवादी ही हों। साहित्य रचना की भावाकुलता में लेखक अक्सर सब कुछ भूल जाता है। उसके भीतर प्रसव-वेदना की तरह केवल एक ही अनुभूति उमड़ती रहती है कि अपने को यथासंभव पूरा का पूरा अभिव्यक्त कर दें। रचना के समय वह केवल इतना ही सोचता है कि भीतर जो कुछ घुमड़ रहा है वह सब-का-सब बाहर आ जाय इसलिए लिख

चुकने के बाद उसे एक प्रकार की राहत सी मिलती है। रचना के समय इसके अतिरिक्त दूसरी कोई अनुभूति कृति को चौपट करने के लिए काफी हो सकती है। जिस तरह लक्ष्यवेध के समय तीरंदाज केवल लक्ष्य को देखता है, उसी तरह लिखने के समय लेखक केवल रचना को देखता है। उस समय उसकी संपूर्ण इन्द्रियाँ सारे संसार से सिमट कर एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाती हैं। ऐसी ही मनःस्थिति में वह कहता है कि मैं तो स्वान्तः सुखाय लिखता हूँ। इस स्वान्तः सुख में उसकी सारी साधना और सारा व्यक्तित्व अन्तर्निहित है—दृष्टिकोण, उद्देश्य, अनुभव, अनुभूति, विचार, विश्वास वगैरह सब कुछ इसी के अंतर्गत आ जाता है। इन तमाम बातों को वह स्वयं कहे या नहीं, लेकिन साहित्यिक कृति के रूप में इन सब का फल हमारे सामने आता है।

अगर कोई इस बहस में नहीं पड़ना चाहता कि साहित्य में लेखक जो कुछ व्यक्त करता है वह उसका वैयक्तिक व्यक्तित्व है या सामाजिक व्यक्तित्व तो हमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि रचना में व्यक्त वास्तविकता सबके सामने है। इस साहित्यगत वास्तविकता की झुठाई-सचाई अपने आप ही रचयिता के व्यक्तित्व की पोल खोलने के लिए काफी है। पाठक के सामने वही एक रचना तो नहीं है। और भी रचनाएँ उसके सामने आती हैं। यदि व्यक्ति के मूल्यांकन के लिए समाज में दूसरे व्यक्ति हैं तो किसी रचना के मूल्यांकन के लिए भी साहित्य में दूसरी रचनाएँ हैं। व्यक्तियों की तरह रचनाएँ भी परस्पर संबद्ध होती हैं और एक दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं। रचनाओं के पारस्परिक प्रभाव के बारे में प्रायः यही समझा जाता है कि पहले की लिखी रचना से ही कोई रचना प्रभावित होती है। परन्तु इस बात की ओर लोगों का ख्याल नहीं जाता है कि रचनाएँ अपनी समकालीन तथा परवर्ती रचनाओं से भी प्रभावित होती हैं। एक रचना से दूसरी रचना का अर्थ बदल जाता है, मूल्य घट-बढ़ जाता है और वह अपने आप से कुछ और हो जाती है। इसे कौन इन्कार कर सकता है कि मानस ने बाल्मीकि रामायण को और कामायनी ने मानस को पाठकों के लिए बदल दिया।

गरज कि विभिन्न रचनाओं में व्यक्त जीवन के चित्रों के देखने से पता चलता है कि कुल मिलाकर इन खंड-चित्रों से भी कहीं अधिक विशाल जीवन है जो समूचा का समूचा किसी एक रचना में नहीं आ सका है और न एक

लेखक अथवा एक युग के सभी लेखकों की रचनाओं में ही वह महान चित्र आ पाया है। इससे एक व्यक्ति-निरपेक्ष वास्तविकता का आभास मिलता है और उसी को हम समाज की संज्ञा देते हैं। इससे साबित होता है कि लेखक अपने व्यक्तित्व के माध्यम से समाज को ही अभिव्यक्त करता है। अभिव्यक्ति के लिए वह जिस भाषा, छंद अथवा रूप का आश्रय लेता है वह स्वयं समाज की परंपरा से प्रसूत है। समाज यदि एक ओर लेखक के व्यक्तित्व के माध्यम से साहित्य-रूप ग्रहण करते हुए व्यक्ति की सीमा से सीमित हो जाता है तो दूसरी ओर व्यक्ति की विशिष्टता के स्पर्शसे विशिष्ट हो उठता है। इसीलिए प्रत्येक सार्थक रचना समाज के जीवन में नवीन योगदान होती है। साहित्य में व्यक्त समाज का प्रत्येक सफल चित्र समाज को पहले से कुछ बड़ा बना देता है। हर श्रेष्ठ रचना से समाज महत्तर और अग्रसर होता है। और ऐसी रचना करके स्वयं रचयिता भी महत्तर होता है—महत्तर केवल यश के क्षेत्र में नहीं, बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी। ऐसी रचना स्वयं लेखक की मानसिक तथा आध्यात्मिक सत्ता को समृद्ध करती है।८

समाज की इस विशिष्ट छाया की विशिष्टता का पता लगाने में इस प्रकार लेखक का व्यक्तित्व बहुत सहायक हो सकता है। खेद है कि समाज और साहित्य के बीच की यह कड़ी अक्सर या तो टूट जाती है या फिर आवश्यकता से अधिक महत्व पा जाती है। पर वह कड़ी न तो अस्तित्वहीन है और न स्वतः सम्पूर्ण। साहित्य में जहाँ समाज की छाया बिगड़ी हुई दिखाई पड़ती है वह इसी के कारण, किसी अलौकिक नियम के कारण नहीं। लेखक अपने समाज को ज्यों-का-त्यों देख लेने के लिए चाहे जितनी कोशिश करके लेकिन उसकी दृष्टि की एक सीमा होती है; उसकी ईमानदारी के बावजूद रचना में समाज का चित्र कुछ-न-कुछ बदल ही जाता है। संकीर्ण दृष्टिवाले लेखकों का सामाजिक चित्र संकीर्ण होता है और रहस्यवादी दृष्टि वाले लेखक का चित्र रहस्यात्मक अर्थात् अस्पष्ट होता है! इनके विपरीत व्यापक और पैनी दृष्टिवाले सहृदय समझदार लेखकों द्वारा प्रस्तुत चित्र अधिक से अधिक वास्तविक होता है। और हीगेल के शब्दों में जो वास्तविक होता है, वही विवेकपूर्ण होता है और जो विवेकपूर्ण होता है वही वास्तविक होता है।

इस प्रकार विवेकपूर्ण बात है वास्तविकता के चित्रण पर विचार। लेकिन ऐसे भी आलोचक हैं जिन्हें न तो विवेक से कोई मतलब है और न वास्तविकता

से। उनकी बिगड़ी मति के अनुसार आलोचना के सामने 'असली सवाल सामाजिक यथार्थ का नहीं है, बल्कि उस यथार्थ की विकृतियों के अध्ययन का है।'

यथार्थ की विकृतियों का अध्ययन करते-करते भृंगकीटन्याय से उनका मस्तिष्क इतना विकृत हो गया है कि आलोचना, कविता, तथा सभी क्षेत्रों को वे अपनी मानसिक विकृतियों से विकृत कर रहे हैं। कोई जरूरी नहीं है कि जो सवाल इनके लिए असली हो, वह सारे साहित्य का भी असली सवाल हो जाय। लेकिन विकृत मस्तिष्क की यही तो बीमारी है कि सारी दुनिया विकृत मालूम हो रही है! फिर भी यह निश्चत है कि दो चार लेखकों के इस साहित्य-बिगाड़ू काम से सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति नहीं रुक जायगी। मुर्गे की तबीयत, बाँग न दे लेकिन सुबह का होना नहीं रुकेगा। समाज अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति के लिए हमेशा की तरह व्यक्ति और व्यक्तित्व पैदा कर लेगा!

———

अनुभूति और वास्तविकता•

अनुभूति के बिना साहित्य नहीं लिखा जा सकता, यह सभी जानते हैं लेकिन जानने से क्या होता है? जब तक 'अनुभूति' का नाम-जाप बराबर न किया जाय, फल नहीं मिलता—'भाव कुभाव अनख आलसहू। नाम जपत मंगल दिसि दसहू।' इस नियम को कुछ लेखक इतनी तत्परता से निभा रहे हैं कि उनके लेखों में 'अनुभूति' ही 'अनुभूति' की बहार दिखाई पड़ती है। 'आलोचना' के संपादकों ने जब साहित्य का महान 'दायित्व' अपने सिर पर लिया है तो इस कर्तव्य-पालन में वे किसी से कैसे पीछे रह सकते हैं!

अक्टूबर' ५३ की 'आलोचना' में सौन्दर्यबोध पर प्रकाश डालते हुए संपादक कहते हैं—"साहित्यिक सौन्दर्य बोध के क्षेत्र में अनुभूति की निर्भरता, अभिव्यक्ति की निर्वैयक्तिकता अथवा प्रभाव की अलौकिकता को हम वैयक्तिक अनुभूति के विशिष्ट क्षणों और सामाजिक जीवन के विशिष्ट मूल्यों के संतुलन के अर्थ में ही ग्रहण कर सकते हैं अन्यथा नहीं।"

एक ही वाक्य में पहली बार 'अनुभूति की निर्भरता' तो दूसरी बार 'वैयक्तिक अनुभूति'! कोई बात नहीं। केशवदास काहू पै डरैं न पुनरुक्ति को! शब्द अच्छा है तो दो बार आने से गुणकारी ही होगा। अनुभूति के विशिष्ट क्षणों में शायद इसी तरह पुनरावृत्ति हुआ करती है। पहली बार निर्भरता को समेटने में वैयक्तिकता छूट गई तो दूसरी ओर वैयक्तिकता को सँभालने में निर्भरता चली गई। पता नहीं अनुभूति वैयक्तिकता पर निर्भर है या निर्भरता पर? इसे कौन बताए? क्योंकि यह तो प्रभाव की अलौकिकता है! अलौकिकता से कोई परलोक की ओर आँखें न करले इसलिए कहा गया है कि यह अभिव्यक्ति की निर्वैयक्तिकता है; अर्थात् यह कथन किसी एक व्यक्ति का नहीं है और न उसमें किसी का व्यक्तित्व है! इसमें अनेक विशिष्ट मूल्यों के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है! कितना मुश्किल काम है! संतुलन स्थपित हो तो कैसे? एक ओर वैयक्तिकता खींचती है तो दूसरी ओर निर्वैयक्तिकता! एक ओर अलौकिकता है, दूसरी ओर सामाजिकता। एक ओर अनुभूति है तो दूसरी ओर अभिव्यक्ति। एक ओर क्षण हैं तो दूसरी ओर मूल्य।

क्या ग्रहण करें और क्या छोड़ दें ? इसलिए सबको एक वाक्य में तोल के फेंक दिया।

इस असंतुलन में भी एक बात साफ़ है कि अनुभूति का अर्थ वैयक्तिक अनुभूति है। अनुभूति तो व्यक्ति को ही होती है इसलिए 'वैयक्तिक अनुभूति' में यदि 'वैयक्तिक' शब्द आवाश्यक नहीं है तो उसका एक ही मतलब हो सकता है—(व्यक्ति को) व्यक्ति की अनुभूति। जो व्यक्ति अनुभूति का विषय है, वह अनुभव करनेवाले से भिन्न भी हो सकता है और अभिन्न भी, लेकिन यहाँ इस तरह का कोई संकेत नहीं है कि अनुभूति का विषय अपने से भिन्न है। इस-लिए वैयित्कक अनुभूति का अर्थ हुआ अपने तईं अपनी अनुभूति अर्थात् अपने को अपनी अनुभूति।

जब हम अपने को अनुभव करते हैं तो अपना क्या अनुभव करते हैं ? वैयक्तिक अनुभूतिवादी इस पर भी चुप हैं। शायद उनके लिए यह केवल अनुभृति का विषय है, विचार का नहीं। लेकिन अनुभूति की चर्चा को अनुभूति का विषय कहकर तो नहीं टाला जा सकता। विचार के स्तर पर तो उसे लाना ही होगा।

अनुभव बताता है कि जब हम अपने को अनुभव करते हैं तो अपने कार्यों को अनुभव करते हैं। कार्य का संबंध अपने अलावा किसी और से भी होता है। कार्य करने का मतलब है अपनी व्यक्तिगत सीमा से बाहर निकलना। इस तरह हम कार्य करने के साथ ही अपने से बाहर समाज की सीमा में आ जाते हैं और हमारा कार्य सामाजिक हो जाता है। व्यक्ति अपने इन्हीं सामाजिक कार्यों का अनुभव करता है लेकिन जो लोग अनुभूति को सर्वथा वैयक्तिक सीमा तक ही रखना चाहते हैं उन्हें अनुभूति का यह रूप क्योंकर स्वीकार हो ? इसलिए वैयक्तिक अनुभूति को उन्हें वैयक्तिक कार्यों की अनुभूति तक ही सीमित रखना पड़ेगा।

सवाल यह है कि मनुष्य का ऐसा कौन सा कार्य है जो एकदम वैयक्तिक है और जिसे वह एकदम अपने ही भीतर करता है, और इस तरह करता है कि उसका असर उसके तन-मन के बाहर कहीं प्रकट न हो। ज़ाहिर है कि व्यक्ति का यह कार्य उसका भाव और विचार है। सोचने-विचारने और अनुभव करने का काम व्यक्ति अपने ही भीतर करता है। इस प्रकार जो लोग अनुभूति को वैयक्तिक ही रहने देना चाहते हैं वे अपनी अनुभूति को ही अनुभव करने की बात करते हैं। वैयक्तिक अनुभूति का मतमब, अनुभूति की अनुभूति।

जब अनुभव करने को और कुछ नहीं, केवल अनुभूति है और अनुभूति पर भी विचार न करके केवल अनुभूति की जाती है तो कहने के लिए भी केवल अनुभूति रह जाती है। आलोचनावालों के अनुभूति-अनुभूति जपने का यही कारण है। लगता है, जैसे किसी ने कान में मंत्र तो फूँक दिया लेकिन अर्थ नहीं बताया।

इस वैयक्तिक अनुभूति के मंत्रदाता हैं अज्ञेय। मंत्रदाता गुरु को शिष्य से कुछ तो अधिक जानना ही चाहिए! अलोचना-संपादकों ने अनुभूति की व्याख्या करने का जो कार्य छोड़ दिया है, वह अज्ञेय के साहित्य में मौजूद है। अनुभूति को अज्ञेय लेखक का सत्य मानते हैं और सत्य को रागात्मक तथ्य। रागात्मक तथ्य अर्थात् तथ्य के साथ रागात्मक संबंध। इस तरह अज्ञेय ने अनुभूति के साथ ही तथ्य का भी अस्तित्व स्वीकार किया है। किसकी अनुभूति? तथ्य की। अब देखना चाहिए कि इस अनुभूति में तथ्य क्या है?

'पठार का धीरज' कहानी में इस तथ्य का उद्घाटन किया है। वे कहते हैं कि "यथार्थता के स्तर हैं। स्थूल वास्तव, फिर सूक्ष्म वास्तव जिसमें हमारे भाव का भी आरोप है, फिर—क्या और भी कोटियाँ नहीं हैं, जहाँ भाव ही प्रधान हो, जहाँ तथ्य वहीं पहचाना जाय, जहाँ वह व्यक्ति-जीवन के प्रसार में गहरी लीकें काट गया हो, नहीं तो और पहचानने का कोई उपाय न हो, क्योंकि व्यक्ति-जीवन, व्यक्ति-जीवन के क्षण का स्पन्दन इतना तीव्र हो कि सब कुछ उसी से गूँज रहा हो, और कोई ध्वनि सुनी न जा सके।"

वास्तव के इन स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम स्तरों में अज्ञेय किस स्तर पर रहना पसन्द करते हैं, यह उनके बादवाले विचारों से स्पष्ट है। उन्हें वह स्तर सबसे प्रिय है जहाँ केवल भाव की सत्ता हो और तथ्य को पहचानने का कोई उपाय न हो। वे उस स्तर पर रहना चाहते हैं जहाँ क्षण के तीव्र स्पन्दन की गूँज के अतिरिक्त और कोई ध्वनि सुनी न जा सके। गरज़ कि वे शुद्ध भाव-जगत् में रहना चाहते हैं। इसी का दूसरा नाम है अनुभूति की अनुभूति।

ऐसी तीव्र मनःस्थिति में तथ्य का बोध खो बैठना स्वाभाविक है। तथ्य पर भावों के आरोप से गढ़ी हुई छाया जब प्रेम हो जाती है तो 'भीतर की वास्तविकता—न जाने कब उसमें घुल जाती है।' 'उस घनी दुर्भेद्य छाया' के कारण तथ्य दिखाई ही नहीं पड़ता। धीरे-धीरे उस छाया-लोक का सम्बन्ध स्थूल वास्तविक जगत से टूट जाता है।

अज्ञेय के शब्दों में "पठार की अपनी एक वास्तविकता है, उनकी अपनी एक वास्तविकता है। दोनों समानान्तर हैं, सहजीवी हैं, संयुक्त हैं; यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि वास्तविकता के अलग-अलग स्तर कहीं भी एक दूसरे को काटें। जो बोध स्वयं ही हो; चेतना स्वतः उभर कर, फैलकर जिस स्तर को भी छू आवे, आवे; चेतना स्वच्छन्द रहे, निर्धूम रहे।"

इस प्रकार अज्ञेय का सत्य तथ्य से रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर भी ऐसा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है जिससे फिर तथ्य से कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता। ऐसा सम्बन्ध जिसमें सम्बन्ध ही न हो, अपना खंडन आप है। यह तो 'आत्म-हत्या करके जीवित रहने'की तरह है। सम्बन्धी को अलग करके भी सम्बन्ध बने रहने की सम्भावना मन में तभी उठती है जब कोई सम्बन्ध का सारा श्रेय अपने आप को ही दे देता है। इस प्रकार वह सम्बन्ध को ही सम्बन्धी समझ लेता है—अनुभव के *कार्य* को ही अनुभव की *वस्तु* समझ लेता है। इस प्रकार अज्ञेय भी अनुभूति से वास्तविकता तक पहुँचकर फिर अनुभूति की गुहा में वापस लौट आते हैं। यहाँ आने पर फिर रह जाती है वही अनुभूति की अनुभूति।

सवाल यह है कि यह अनुभूति है क्या? अज्ञेय कभी इसे दर्द कहते हैं और कभी विकलता। विकलता किसकी? खोज की। खोज किसकी? उसी विकलता की—विकल अनुभूति की। जब वास्तव-जगत् को छोड़ आये तो फिर यह विकल रहने की अनुभूति कहाँ से प्राप्त हो सकती है? अज्ञेय का कहना है कि यह विकल अनुभूति साहित्य-जगत् की वास्तविकता से खोजी जा सकती है। लिहाज़ा वे विकल अनुभूतियोंवाले साहित्य से अनुभूतियाँ जुटाया करते हैं। कोई बात नहीं। यदि वास्तव-जगत् में जाने का साहस नहीं तो साहित्य-जगत् ही सही। लेकिन साहित्य-जगत् में भी तो वास्तविकता के अनेक रूप हैं और यहाँ से भी अपनी अनुभूतियों का भण्डार भरा जा सकता है। लेकिन जो यहाँ भी आकर केवल विकलता की ही खोज करता हो उसके लिए अन्य सभी प्रकार की अनुभूतियों के लिए द्वार बन्द है। इस प्रकार साहित्य-जगत् में आने पर भी विकलता की विकलता और खोज की खोज तक जाकर रास्ता ख़त्म हो जाता है। अपने से बाहर निकले तो अपने ही जैसे विकल लोगों के बीच पहुँचे और फिर अपने में लौट आये। अज्ञेय ने यह सब 'ईमानदारी' से स्वीकार किया है।

देखना यह है कि इस विकलता का कोई समझ में आने लायक ठोस रूप भी है या यह केवल भावना-जगत् की ही उपज है। अज्ञेय का कहना है कि

यह विकलता 'निघरे पन' और 'नि-जड़ेपन' की है और यह पूँजीवादी जीवन-व्यवस्था का अभिशाप है जिसके कारण हमारे 'व्यक्तित्व के टुकड़े-टुकड़े' हो गये हैं और 'जिजीविषा व्यर्थ' हो गई है। इस अनुभूति में और विकलता में निःसन्देह पूरी ईमानदारी है; इसलिए यह अनुभूति भी वास्तविक है। इस वास्तविकता ने उनके साहित्य को काफी मार्मिक बना दिया है। उनके साहित्य में इसीलिए मन को पकड़ लेने की और विकल कर देने की क्षमता है इस तथ्य को झुठला देनेवाले अपनी जड़ता का परिचय देते हैं। ऐसे टूटते व्यक्ति और इनका साहित्य हमारे जीवन का एक तथ्य है—वास्तविकता का यह एक अंग भी है। इसमें व्यक्त होनेवाली अनुभूति की तीव्रता मन को छूती है तो इसकी टूटन मन को तोड़ती भी है। साथ ही इन सबसे मन में खोज की विकलता भी उत्पन्न होती है और जो इसे छोड़कर किसी समाधान की ओर दौड़ता है। ऐसा दर्दनाक साहित्य अपना निषेध स्वयं करता है; थोड़ी देर के बाद ही यह साहित्य पाठक को अपने सम्पर्क से हटाकर किसी स्वस्थ साहित्य की प्यास जगाता है। यही उस साहित्य का अन्तर्विरोध है।

इस अन्तर्विरोध को न देख पाने के कारण कुछ जनवादी आलोचक इस तरह के संपूर्ण साहित्य को चुटकी से उड़ा देते हैं। वे उनकी अनुभूत वस्तु और अनुभूति दोनों को भ्रम से एक समझ लेते हैं। विकलता के मूर्त चित्र और विकलता की अनुभूति दोनों एक चीज नहीं है। विकलता के मूर्त चित्र वास्तविक हैं लेकिन विकलता भ्रम है और इस भ्रम के कारण वह वास्तविक चित्र भी कुछ सीमित, खंडित और धुँधला हो जाता है। उदाहरण के लिए 'नदी के द्वीप' की रेखा का चरित्र अपनी आंशिक वास्तविकता के कारण मार्मिक प्रभाव डालने की पूरी क्षमता रखता है लेकिन कोई आवश्यक नहीं कि पाठक के मन में रेखा का चरित्र वही विचार और अनुभूति जगाये जो रेखा, भुवन अथवा अज्ञेय के मन में उठते हैं। रेखा की बहुत-सी अनुभूतियाँ हमारे लिये कोरा हेतुवाद, युक्तिसत्य हैं और स्वनिर्मित भ्रम हो सकती हैं लेकिन अपने जीवन के जिन कार्यों को लेकर वह विचार गढ़ती है तथा उन विचारों के अनुसार जो कार्य करने का प्रयत्न करती है वे कार्य वास्तविकता के अङ्ग हैं। जिस सतर्कता से वह अपने जीवन पर विचार करती है और विचारों को जीतती है वह सबको जागरुक बनाने की क्षमता रखता है। रेखा के व्यक्तिवाद से मतभेद की पूरी गुंजाइश है, लेकिन उसके व्यक्तित्व से मुँह फेरना असम्भव है।

दूसरी ओर व्यक्तिवादी आलोचक हैं कि उन्हें भी इस 'दर्दवादी' साहित्य में

कोई अन्तर्विरोध नहीं दिखाई पड़ता। उनकी दृष्टि में संपूर्ण अनुभूत वस्तु दर्द की अनुभूति में घुल जाती है और इस तरह जो अनुभूति तैयार होती है वह सब-की-सब अच्छी लगती है। उनके लिए रेखा का व्यक्तित्व एक युक्ति है और वह युक्ति है 'दुःख सबको माँजता है।' दुःख की इस अनुभूति में वे अपने आप को इतना गर्क कर देते हैं कि उनका सारा व्यक्तित्व उसमें विलीन हो जाता है। फिर तो वे उसी विकलता को लेकर जीने लगते हैं। जीवन की अन्य अनुभूतियाँ उनके लेखे समाप्त हो जाती हैं। व्यक्तित्व संकुचित हो जाते हैं, भावनाएँ कुण्ठित हो जाती हैं और विचार अस्पष्ट हो जाते हैं। समस्त सम्बन्धसूत्रों को तोड़ कर वे एक ग्रंथि के रूप में शेष रह जाते है—क्षुद्र ग्रंथि जो अपने लिए और दूसरों के लिए भी खोलने में कठिन हो।

अज्ञेय ने जिस सत्य के बारे में लिखा है कि सत्य एक है क्योंकि वह एक ग्रंथि है जिसके सब सूत्र खो गये हैं, वह सत्य वे स्वयं हैं। सत्य की यह अनुभूति लेखक की वास्तविकता को इसी तरह क्रमशः संकुचित बना देती है और फिर वह संकुचित वास्तविकता उसकी अनुभूति को भी संकुचित करके छोड़ती है; एक विन्दु पर केन्द्रित दुःख इसी संकीर्ण अनुभूति की स्थिति है।

ऐसे समय जब कि कुछ लेखक तथ्य के यथातथ्य चित्रण को ही साहित्य-रचना समझते हैं, अज्ञेय का तथ्य के साथ रागात्मक संबंध स्थापित करने का नारा देना महत्वपूर्ण है। साहित्य में वास्तविकता के चित्रण के लिए उससे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक है, यहाँ तक कि वह पहली आवश्यकता है। लेकिन अज्ञेय के रागात्मक सम्बन्ध की सीमा है—वह सीमा उनके अपने व्यक्तित्व, अपनी सामाजिक स्थिति, अपने हित और प्रयोजनों की सीमा है। लेखक की यह निजी सीमा वास्तविकता में से कुछ ही वस्तुओं से सम्बन्ध स्थापित करने को बाध्य करती है, साथ ही उस सीमा से उसके सम्बन्ध का स्वरूप भी निर्धारित होता है। अज्ञेय का सारा रागात्मक संबंध एक सीमित दायरे के नर-नारियों से है और उस सम्बन्ध की रागात्मकता भी पीड़न-परक सुख-भोग तक ही सीमित है। अपनी इन सीमाओं को छिपाने के लिए वे 'अनुभूति', 'रागात्मक सम्बन्ध', 'सत्य', 'तथ्य' आदि की केवल सामान्य और अस्पष्ट बातें ही करते हैं। उनका 'तथ्य' उतना ही सूक्ष्म है जितनी सूक्ष्म उनकी अनुभूति। सामान्यता के असीम आकाश में उड़ती हुई ये बातें सोलहो आने सच प्रतीत होती हैं लेकिन ज्यों ही उन्हें व्यवहार के धरातल पर उतार कर देखें तो सभी सीमाएँ प्रकट हो जाती हैं।

इसलिए सवाल सामान्य अनुभूति और वास्तविकता का नहीं बल्कि यह है कि अनुभूति किसकी और कैसी ? वास्तविकता किसकी और कैसी ? आज जब कि अनुभूति और वास्तविकता का नारा सभी लोग लगा रहे हैं तब ऐसे ठोस प्रश्न आवश्यक हो उठे हैं। विचारों की आँधी में आज समाज, जीवन, जनता, मानव, प्रकृति आदि मूर्त वस्तुयें भी विचार-मात्र बना दी गई हैं, फिर अनुभूति, वास्तविकता, स्वतन्त्रता आदि वैचारिक मान्यताओं के बारे में तो कहना ही क्या ?

इस सामान्यता से बचने के लिए व्यक्तिवादी लेखकों ने तो निश्चय कर लिया है कि जो कुछ अपनी सीमा में है वही सत्य है, बाकी का कोई अपना मतलब नहीं। लेकिन धारणा से व्यक्ति-निरपेक्ष वास्तविक का न होना तो नहीं साबित हो जाता। संसार में और भी तो लोग हैं और उनकी भी अपनी-अपनी धारणाएँ हो सकती हैं।

इस प्रकार किसी वस्तु के बारे में एक व्यक्ति की जो धारणा है उससे वह वस्तु कुछ अधिक है क्योंकि उस वस्तु के बारे में और भी धारणाएँ दिखाई पड़ती हैं। यदि कोई वस्तु केवल धारणाओं का पुंज ही मान ली जाय तो भी वह एक व्यक्ति की धारणा से अधिक है। स्वयं कोई भी व्यक्ति अपने बारे में बनाई हुई अपनी धारणाओं से ***अधिक*** हो सकता है क्योंकि उसके बारेमें समाज की अन्य धारणाएँ भी हो सकती हैं। ऐसी हालत में किसी वस्तु से यदि कोई आँख मूँद ले तो इससे वह वस्तु भी उसकी ओर से आँख नहीं मूँद सकती। जब व्यक्तिवादी लेखक जनता से सम्बन्ध स्थापित न करके भी निश्चिन्त रहने का स्वाँग भरता है तो इससे उसके बारे में जनता अपनी राय बनाना छोड़ नहीं देती। जो लेखक यह समझते हैं कि यदि किसी से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करूँगा तभी सम्बन्ध होगा अन्यथा नहीं होगा वे भ्रम में हैं। संबंध एकतरफा कभी नहीं होता। जो लेखक पूँजीवादी व्यवस्था से सम्बन्ध नहीं रखना चाहते वे भी पूँजीवादियों की गिरफ्त में आ जाते हैं क्यों कि उन्हें पूँजीवादियों से मतलब हो या नहीं, पूँजीवादियों को तो उनसे मतलब हो सकता है।

इसी तरह जनता का आन्दोलन भी कभी-कभी बहुत से तटस्थ लेखकों को उभड़कर अपने में समेट लेता है। वास्तविकता कोई जड़ और निष्क्रिय वस्तु नहीं है, वह लेखक की इच्छा के बावजूद अपना काम करती है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब सामयिक आन्दोलन ने शुद्ध साहित्य की दुनिया

में रहनेवाले लेखकों को भी आन्दोलनकारी बना दिया। और जब शुद्ध साहित्यकारों में से किसी ने वास्तविकता के इस दबाव के विरुद्ध विद्रोह किया तो शीघ्र ही उसे वेदना या निराशा के लोक में शरण लेनी पड़ी। ऐसे समय कुछ इस तरह के भी लेखक दिखाई पड़ते हैं जो भावुकतावश वास्तविकता के प्रवाह में चले तो गये लेकिन अपनी शक्ति और सीमा के अनुसार उसे ग्रहण न कर सके। इस हालत में कुछ लेखक अपने व्यक्तित्व को दो स्तरों में बाँट लेते हैं जिनमें से एक स्तर पर वे अपनी निजी अनुभूति की रचनाएँ करते हैं और दूसरे स्तर पर सामाजिक वफ़ादारी की। परन्तु स्तरों का यह विभाजन दूर करने के लिए लेखक ने यदि प्रयत्न नहीं किया तो धीरे-धीरे यह स्थायी हो जाता है और खंडित व्यक्तित्ववाला लेखक न तो ठीक से निजी अनुभूति की रचनाएँ कर पाता है और न सामाजिक वफ़ादारी ही पूरी कर पाता है। इस स्थिति के दूसरे लेखक कुछ दिनों तक सामाजिक आन्दोलन के भावुक उद्गार व्यक्त करते रहते हैं और अनुभूतिहीन सतही चित्र बनाने में लगे रहते हैं, इसके बाद या तो वे साहित्य छोड़कर राजनीति के क्षेत्र में चले जाते हैं या फिर अखबार-नवीसी करते उम्र काट देते हैं। जो अधिक भावुक होते हैं, उनका मोह सहसा भंग हो जाता है और मोर्चे से ध्वस्तमन लौट कर वे फिर अपनी पुरानी गुहा में टूटा विश्वास जोड़ने की कोशिश करने लगते हैं।

इन तमाम लेखकों से मजे में अपने को वे लेखक समझते हैं जिन्हें जगत-गति ब्यापती ही नहीं। ये व्यक्ति अपनी सीमा में पूरे संघटितमन होने का दावा करते हैं। अपनी अनुभूतियों के परस्पर सामंजस्य का भी इन्हे अभिमान रहता है। विभाजित व्यक्तित्ववालों की अपेक्षा अपने को ये अधिक 'ईमानदार' कहते हैं। गोया जनता के दुःख-दर्द से विचलित न होना ही सबसे बड़ा अन्तःसंघटन है और दूसरों के परिश्रम पर स्वयं सुख लूटना ही सबसे बड़ी ईमानदारी है! इतना होते हुए भी लेखक सबसे अधिक विघटित, अस्थिर, विकल और पीड़ित दिखाई पड़ते हैं! सामाजिक चेतनावाले लेखकों की पीड़ा से इन व्यक्तिवादी लेखकों की पीड़ा में यही अंतर है कि व्यक्तिवादी लेखक अपने लिए दुखी हैं तो अन्य लेखक समस्त पीड़ित मानव के लिए! इसीलिए इन दोनों प्रकार के साहित्यकारों की पीड़ा में एक सी शक्ति नहीं है। इस तरह वास्तविकता अनुभूति की प्रकृति और मात्रा दोनों को प्रभावित करती है।

अनुभूति एक रचनात्मक क्रिया है। अपने जीवन और परिस्थितियों को बदलने के क्रम में हमारी अनुभूतियाँ भी बदलती चलती हैं—उनमें नवीनता

आती है। वैज्ञानिक आविष्कारों के द्वारा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के कारण मनुष्य के राग-बोध के अनेक नये पहलू प्रकट हुए। अपने देश की स्वाधीनता के लिए लड़ते हुए जिस राष्ट्रीय भावना की अनुभूति प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला आदि आधुनिक साहित्यकारों को हुई वह हिन्दी साहित्य में सर्वथा नयी थी। इसलिए जो लोग अपनी अनुभूति के विस्तार की आकांक्षा प्रकट करते हुए भी सामाजिक जीवन को केवल 'आत्मसात्' करने अथवा उसके 'सम्पर्क' में आने की बात करते हैं वे अपनी निष्क्रियता का ढिंढोरा पीटते हैं। उनके वाक्य इस प्रकार के होते हैं—लेखक को चाहिए कि 'वह अपने आप को सामयिक *जीवन के स्रोत* में पूरे वेग से बह जाने दे' और 'वह अपने आपको अधिक-से-अधिक सशक्त जीवन-प्रवाह में **फेंक कर** उसकी वास्तविक अनुभूति प्राप्त करे।'

अपने आपको प्रवाह में 'फेंक देने' और 'बह जाने देने' से जो अनुभूति प्राप्त होगी वह बहुत नयी न होगी। यह भावना अज्ञेय के 'स्थिर समर्पण' से अधिक नहीं है। अज्ञेय यदि अपने मदमाते दीप को पंक्ति को दे देने की बात करते हैं तो नेमिचन्द जैन अपने को प्रवाह में फेंक देने की। इन दोनों से लेखक की विवशता ही प्रकट होती है। जब तक लेखक में व्यापक वास्तविकता को आत्मसात् करने की ऐसी विवशता रहेगी, उसकी अनुभूति भी इस विवशता की सीमा से आगे न बढ़ेगी। यह विवशता तभी दूर होगी जब लेखक अपनी परिस्थितियों को बदलने में योग देगा।

जो लेखक अपने युग की ज्वलंत समस्याओं से तटस्थ रहकर केवल 'अनुभूति' की रट लगाया करते हैं वे अनुभूति के सामाजिक आधार का निषेध करते हैं। इसलिए उनकी सारी सदिच्छा सपना बन कर ही रह जाती है। अनुभूति वास्तविकता नहीं बल्कि वास्तविकता-सम्बन्धी भावना है इसीलिए वह वास्तविकता का एक अंश अथवा पहलू है। अनुभूति वास्तविकता की जगह नहीं ले सकती; उसकी सार्थकता इसी बात में है कि वह वास्तविकता को रचनात्मक रूप दे सके।

विषयवस्तु की अपेक्षा 'अनुभूति' पर जोर देनेवाले वस्तुतः अपनी वैयक्तिक सीमाओं की वकालत करते हैं, वे अनुभूति के नहीं, 'अनुभूति-विशेष' के हिमायती हैं। उनकी अनुभूति के विस्तार की बात करते हुए अपने प्रयत्नों से उसे संकुचित बनाते हैं।

———

प्रगतिशील वस्तु और प्रयोगवादी रूप का समन्वय•

जब कोई कवि प्रयोगवादी रूप और प्रगतिशील वस्तु के समन्वय की बात कहता है तो मुझे जार्ज बर्नर्ड शॉ और अभिनेत्री की बातचीत का वह टुकड़ा याद आ जाता है जिसमें अभिनेत्री ने शॉ से शादी की चर्चा चलाते हुए कहा था कि 'आपकी बुद्धि और मेरे रूप से रूपवान और बुद्धिमान संतान पैदा होगी !' 'लेकिन यह भी तो हो सकता है कि उसे मेरा रूप और तुम्हारी बुद्धि मिल जाय।' शॉ के इस जवाब में कोरी हाजिरजवाबी का ही मजा नहीं है बल्कि सचाई की चोट भी है। कविता के क्षेत्र में आज ऐसी घटनाएँ अक्सर दिखाई पड़ती हैं।

जनवादी भावनाएँ प्रयोगवादी शिल्प में जाते ही किस प्रकार अपनी शक्ति खोकर एकदम प्रयोगवादी हो जाती हैं इसके लिए मँजे हुए कवि शमशेर की 'बर्ली के किसानों' और 'ग्वालियर के गोली-कांड' पर लिखी हुई कविताएँ देखिये। जब शमशेर जैसे कवि का यह हाल है तो फिर उनकी बात क्या की जाय जिनके लिए प्रयोगवादी शिल्प एकदम अनसाधी मशीन है।

मगर सवाल यह उठता है कि क्या आज की कविता में विषय की तरह शिल्प में भी प्रगतिवादी और प्रयोगवादी दो स्पष्ट प्रवृत्तियाँ हैं ? आलोचकों का तो कहना है कि प्रगतिशील कविता ने शिल्प की ओर ध्यान नहीं दिया इसलिए उसका अपना कोई विशिष्ट शिल्प नहीं है। लेकिन जिसे हम 'नई कविता' कहते हैं उसके रूपविधान का सारा नयापन क्या अकेले प्रयोगवादी कवियों के प्रयत्न का परिणाम है ?

इतिहास के तथ्यों से यह प्रमाणित है कि छायावाद के बाद उसकी प्रतिक्रिया में जो काव्य-प्रवृत्ति उत्पन्न हुई वह प्रगतिवाद कहलायी है। प्रयोगवाद का उस समय कहीं पता न था। उस समय छायावाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई वह केवल विषय-वस्तु के क्षेत्र तक ही सीमित न थी। स्वयं निराला और पंत ने अपनी काव्य-शैली में परिवर्तन किया। पंतजी ने पल्लव-गुंजन-कालीन बँधे

छंदों को छोड़कर मुक्त छंदों की दिशा में कदम उठाया और यथाशक्ति भाषा में सादगी तथा मितव्ययिता लाने की चेष्टा की। उनकी 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में ये नये प्रयत्न देखे जा सकते हैं। परन्तु निराला जी के लिए न तो मुक्त छंद ही नये थे और न भाषा में सादगी तथा मितव्ययिता ही। फिर भी 'अणिमा', 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' में वे भाषा और छंद की दिशा में पहले से एक कदम और आगे आये। 'अणिमा', 'कुकुरमुत्ता और 'नये पत्ते' के मुक्त छंद एकदम 'परिमल' और 'अनामिका' की ही लय-भंगिमा पर नहीं हैं। यही नहीं, 'अनामिका' के 'यह सच है', 'हारी नहीं देख आँखें', 'अणिमा' के 'स्नेह-निर्झर बह गया है', 'मैं अकेला', जैसे छोटे-छोटे गीत छायावादी गीतों से शैली के मामले में स्पष्टतः भिन्न हैं या यों कहें कि नये हैं।

उत्तर-छायावादी कवियों में सियारामशरण गुप्त और नरेन्द्र शर्मा ने भी ऐसी कई कविताएँ लिखीं जो अपनी विषय-वस्तु के अतिरिक्त काव्य-शैली में भी छायावाद से भिन्न तथा नयी थीं। नरेन्द्र की 'उस दिन मेरे ब्रश्न होल में', 'हवा आती', 'कठिन शीत है', 'सेंमल', 'फागुन की आधीरात', 'वासना की देह' 'ज्येष्ठ का मध्याह्न' आदि कविताएँ एकदम आज की नयी कविता मालूम होती हैं यद्यपि वे आज से बारह-पन्द्रह साल पहले लिखी गई थीं।

मतलब यह कि नयी कविता में जो रूप की नवीनता है, उसकी बुनियाद बहुत कुछ निराला-नरेन्द्र ने ही डाल दी थी। उस बुनियाद पर कुछ और नयी ईंटें रखने का कार्य कुछ दिनों बाद सन् ४०-४१ के आसपास अज्ञेय, गिरिजा-कुमार, प्रभाकर माचवे, गजानन मुक्तिबोध, नेमिचंद, भारत भूषण आदि 'तार सप्तकी' कवियों तथा त्रिलोचन, चन्द्र कुँवर वर्त्वाल, केदारनाथ अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र इत्यादि अन्य कवियों ने किया। यह कहना कुछ कठिन है है कि इन कवियों में से किस कवि ने कितना नयापन जोड़ा लेकिन तत्कालीन रचनाओं को देखने से पता चलता है कि अज्ञेय, गिरजाकुमार, भवानी और त्रिलोचन में एक दूसरे से भिन्न अपनी स्वतंत्र विशेषताएँ ऐसी हैं जो नयी कविता के छंद, संगीत, शब्द-योजना, प्रतीक-विधान तथा कथन-भंगिमा के विविध पक्षों में कुछ-न-कुछ नयी चीजें जोड़ती हैं।

नयी कविता के रूप और शिल्प की यही पृष्ठभूमि है और यही पूँजी भी है। जाहिर है कि नये रुपविधान के पुरस्कर्ता प्रगतिशील कवि हैं और उसका निर्माण प्रगतिशील आन्दोलन के दौरान में हुआ है। नयी कविता की यह बहुत

बड़ी उपलब्धि है। पुरानी कविता के शिल्प-संबंधी बंधनों से कविता को मुक्त करने में इस प्रयत्न का ऐतिहासिक महत्व है। निःसन्देह इस नवीनता के निर्माण में अँग्रेजी की युद्धोत्तर कविता का बहुत बड़ा हाथ है। जिस प्रकार छायावादी कवियों ने रवीन्द्रनाथ और अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों के अनुभवों से लाभ उठाकर हिंदी कविता को प्राचीनता की जड़ रूढ़ियों से मुक्त किया उसी प्रकार छायावाद के बादवाले कवियों ने भी विदेशी साहित्य के अन्य कवियों से लाभ उठाया।

परन्तु खेद है कि रूपविधान और शिल्प सम्बन्धी यह सारा नया प्रयत्न देखते-देखते क्षयिष्णु भावनाओं के हाथ चला गया। हथियार तो तैयार हुआ लेकिन तैयार होते-होते तैयार करनेवालों में से बहुतों के हाथ कमजोर हो गये। पीछे इस नये रूपविधान में अधिकांशतः ह्रासोन्मुख अन्तमुँखी भावों की ही कविताएँ लिखी गयीं और धीरे-धीरे उन भावनाओं ने नये शिल्प को अपने रंग से रँगना भी शुरू कर दिया। भावनाओं की टूटन छन्दों की लय में भी घुस गयी। अज्ञेय के परवर्ती छन्दों में आरम्भ का वेग नहीं मिलता; बल्कि विराम और ठहराव की बहुलता है। परवर्ती प्रतीक भी या तो असाधारण और अस्पष्ट हो गये या फिर खंडित। और अब ऐसी स्थिति हो गई है कि नये रूप-विधान को उसमें व्यक्त होनेवाली ह्रास की भावनाओं से मुक्त करके देखना कठिन है। जिस शिल्प ने कविता को हर तरह की पुरानी रूढ़ियों से किसी समय मुक्त किया वह स्वयं एक नये ह्रास का शिकार हो गया। यह शिल्प-विधान पन्द्रह साल पहले अंग्रेजी की जिस कविता से लिया गया था, वह स्वयं युद्धपीड़ित अनास्था, विद्रोह और असंतोष के वैयक्तिक भावों की कविता थी परन्तु हिन्दी कवियों ने उस समय उसकी विषयवस्तु को छोड़कर केवल रूपविधान ही अपनाया था और इस तरह अपनी परिस्थितियों के सम्मुख उसका उपयोग किया। उस समय यह कार्य अत्यंत ऐतिहासिक महत्व का था। लेकिन अब वह बात नहीं है। आज के प्रयोगवादी कवि विदेशी ह्रासोन्मुख कवियों की भावनाओं के भी हिस्सेदार हो गये हैं—हिस्सेदार ही नहीं, बल्कि गुलाम हो चले हैं।

ऐसी स्थिति में जब भी कोई नया कवि प्रयोगवादी रूप को लेकर प्रगतिशील कविता लिखने का साहस करता है तो उसके लिए बराबर यह ख़तरा है कि वह ह्रास की उन भावनाओं में भी गिरफ़्तार हो जाय। किसी प्रतीक को ग्रहण करते समय केवल उसका रूप पकड़ में नहीं आता बल्कि उसके साथ

उसका भाव भी लिपटा चला आता है। ऐसी हालत में उसे देखकर अपनी आवश्यकता के अनुसार कोई नया प्रतीक गढ़ लेने की क्षमता बहुत जागरूक कवि में ही हो सकती है। प्रयोगवादी शब्दों को पचाने की शक्ति जिन नये प्रगतिशील कवियों में नहीं है उनके लिए यही अच्छा है कि अपनी ही पूँजी सँभालें। अज्ञेय के शब्दों को लेकर अज्ञेय से भिन्न कविता लिखना उसी के लिए संभव है जिसकी काव्य-शक्ति अधिक प्रौढ़ हो। जो आधी छोड़कर सारी के लिए दौड़ते हैं वे अपनी आधी भी गँवा बैठते हैं। सिद्ध कवि अपने विशिष्ट शब्दों को अनुभूतिविशेष से पाग देते हैं और जब कोई नया कवि उन शब्दों की नवीनता से आकृष्ट होकर लेने के लिए लपकता है तो उससे लिपटी विशेष अनुभूति से बेखबर रहता है और वही शब्द अपनी कविता में प्रयुक्त करने पर समूची कविता के साथ गद्दारी कर बैठता है। शब्दों का मूल्य बदलने के लिए भिन्न संदर्भ-प्रवाह अपेक्षित है और उस प्रवाह में भी जब तक पर्याप्त शक्ति नहीं होती, वे शब्द अपना मूल अर्थ नहीं छोड़ते।

सामान्य पाठक इसी को अनुकरण कहते हैं और कोई भी नयी रचना अनुकरण नहीं होती। रचना का अर्थ ही है—वास्तविकता का रचनात्मक रूपान्तर। यह बात किसी शिल्प या रूप के ग्रहण के लिए भी लागू होती है। यदि किसी शिल्प को रचनात्मक ढंग से आत्मसात् नहीं किया जाता तो उसे 'रचना' के रूप में व्यक्त भी नहीं किया जा सकता। वस्तु हो चाहे शब्द, रचना में उसका रचनात्मक रूपान्तर तो होना ही चाहिए। ऐसा करने पर ही वह रचना में रचा हुआ प्रतीत होता है।

मतलब यह कि विरोध प्रयोगवादी रूप-मात्र से नहीं है—विरोध है उस रूप के रचनात्मक रूपान्तर न कर पाने से।

जो प्रगतिवादी कवि और आलोचक प्रयोगवादी रूप-मात्र का बहिष्कार करते हैं वे बहुत कुछ वैसी ही बात कहते हैं जैसी अक्तूबर क्रान्ति के बाद सोवियत के कुछ कट्टर कामरेड कहा करते थे कि हम बोर्ज्वा रेल पर नहीं चढ़ेंगे। बोर्ज्वा व्यवस्था ख़त्म करने का यह मतलब नहीं है कि हम उस व्यवस्था के शिल्प सम्बन्धी अनुभवों और उपलब्धियों को भी ख़त्म कर दें। यदि प्रयोगवादी कवियों ने रूप सम्बन्धी कुछ नये प्रयोग किये हैं तो उन प्रयोगों से लाभ उठाकर हम कविता के क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण योग दे सकते हैं बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि शिल्प के क्षेत्र में जितना विकास हो चुका है, उसका

उपयोग न करके हम अपने पिछड़ेपन का प्रमाण देंगे। ऐतिहासिक गतिविधि का साथ न देना कमजोरी है।

आज कई ज़ोरदार प्रगतिशील कवि ऐसे हैं जिनका शिल्प ऐतिहासिक दृष्टि से काफ़ी पुराना है; उदाहरण के लिए नीरज का। नीरज की कविताओं के प्रगतिशील तत्वों की दाद देते हुए भी रूप के पिछड़ेपन की आलोचना होनी चाहिए। रूप की प्राचीनता से नीरज की विषय-वस्तु भी ग्रस्त हो जाती है। उनमें सस्ती भावुकता, हल्का-फुल्का भावावेग और कोरा उद्बोधन ही अधिक मिलता है। इन सबका संबंध नीरज के उन पुरानी शैलीवाले गीतों की सीमा से ही है। पुरानी शैली के गीतों और घिसे-पिटे प्रतीकों में व्यक्त होनेवाले भावोच्छ्वासित जनवादी भाव अपनी क्षणभंगुरता आप प्रकट कर देते हैं। परिस्थिति को ऊपर-ऊपर से ग्रहण करनेवाला कवि ही पुराने रूप में भावुक ढंग की गरम बातें कहता है। नयी वास्तविकता के साथ-साथ जैसे-जैसे कवि का संबंध गाढ़ा हो जाता है, उसके भाव और विचार क्रमशः बदलते जाते हैं; हर नयी वस्तु और उसके संपर्क के हर नये क्षण से जगा हुआ भाव कवि में नये शब्द और रूप की चेतना जगाता है। उसके ठोस अनुभवों से प्राप्त भाव नया रूप-विन्यास चाहते हैं और फिर करते भी हैं। इस रूप में व्यक्त होने पर उन भावों में गंभीर प्रभाव की क्षमता आती है क्योंकि उनके मूल में अनुभव की आत्मीयता होती है।

दिनकर और नीरज के गर्जन-तर्जन में इसीलिए केवल फेन है। भावावेग के उस उफ़ान में गंभीरता कहीं नहीं है। इस प्रकार रूप में ही नहीं बल्कि भाव में भी वे ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से पुराने हैं। उनके भावोच्छ्वास का वर्तमान वास्तविकता से कोई संबंध नहीं है क्योंकि जो संबंध दिखाई पड़ता है वह कि केवल बिखरी हुई फुटकल घटनाओं का संबंध है और इसलिए यह संबंध एक दम सतही है। इसलिए उन्हें नये रूपविधान की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं होता। जब भावभूमि मूलतः पुरानी है तो पुरानी शैली में भी अपनी बात मजे में कही जा सकती है। हाँ, अपने को नये कवियों में शामिल कराने के लिए कभी-कभी नया रूपविधान अपना लिया तो इसे केवल शौक़ का तकाज़ा समझना चाहिए। जो कवि 'शान्ति'को भी पिछले महायुद्ध की तरह एक घटना समझता है जिसका अस्तित्व कुछ नेताओं के भाषणों से खड़ा हुआ, वह बड़ी आसानी से पुराने रूप में उस पर एक ज़ोरदार नारेवाली कविता लिख डालेगा। लेकिन आज बहुत-सी

कविताएँ ऐसी लिखी गई हैं और लिखी जा रही हैं जिनका शीर्षक शान्ति नहीं है—क्योंकि वे 'शान्ति' के लिए लिखी नहीं हैं—और जो एकदम निजी पीड़ा तथा आशा की आकांक्षा से भरी हैं, वे शान्ति की भावना को अधिक मार्मिक ढंग से व्यक्त करती हैं। ऐसा इसलिए है कि शान्ति इनके लिए एक घटना नहीं है बल्कि उनके जीवन-क्रम का एक अंग है और इसीलिए अपनी जीवन-प्रक्रिया के विकास में इस आन्दोलन को उन्होंने सहज रूप से ग्रहण किया है। ऐसी कविता का रूप भी नया है और भाव भी स्वस्थ है। नीरज और नागार्जुन की शान्ति-संबंधी कविताओं की तुलना से यह बात झलक जाती है।

तात्पर्य यह कि यदि कोई व्यक्ति ऐतिहासिक दृष्टि से नई वस्तु के लिए ऐसा ही नया रूप अपनाता है तो रचना श्रेष्ठ होती है। इस प्रक्रिया में वह रूप भी नया हो उठता है। ताल्सताय ने 'युद्ध और शान्ति' के लिए उपन्यास का पुराना रूप अपनाया तो उसकी विषयवस्तु ने उपन्यास का ढाँचा ही बदल दिया; फलतः 'युद्ध और शांति' का उपन्यास-शिल्प परिपाटी-विहित शिल्प से विशिष्ट हो गया। यही हाल रोम्या रोलाँ के उपन्यास 'ज्याँ क्रिस्तफ़' में भी हुआ। इसी प्रकार यदि सशक्त प्रगतिशील कवि तथाकथित प्रयोगवदी रूप अपनाते हैं तो विषय की शक्ति उस रूप को भी अपने अनुसार ढाल लेगी। परन्तु इतना ध्यान रहे कि यह समन्वय नहीं बल्कि रचनात्मक रूपान्तर है।

———

भ्रम और वास्तविकता •

कुछ लेखकों का भ्रम है कि प्रवृत्ति (Tendencoiousness) के कारण साहित्य का छायापन नष्ट हो जाता है इसलिए प्रवृत्ति से दूर ही रहना चाहिए। इस तरह उनकी 'प्रवृत्ति' साहित्यिक छाया को सामाजिक वास्तविकता से भरसक दूर से दूरतर और फिर दूरतम ले जाने की ओर है। एवमस्तु। ऐसी दूर-वर्ती छाया तो अपने आप समाज से दूर रहेगी। लेकिन हम चाहते हैं कि उनकी यह 'प्रवृत्ति' भी, समाज तो दूर, पहले स्वयं उन्हीं से दूर हो जाय। और इसके लिए उन्हें दूर नहीं जाना होगा।

सिद्ध, संत-भक्ति और छायावादी काव्य अपनी छाया की सुदूरता के लिए प्रसिद्ध हैं। सिद्ध कवियों की प्रवृत्ति योग की थी। वे संपूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने पिंड की काया में देखते थे। उनकी कविता में कुंडलिनी, अष्टचक्र, ब्रह्मरन्ध्र इत्यादि की ही चर्चा अधिक मिलती है। तत्कालीन समाज से इन बातों का क्या संबंध है? आचार के क्षेत्र में जो बाहरी आडंबर का विरोध करते थे और जाति संबंधी ऊँच-नीच के भेद को मिटाना चाहते थे उनका इन योग-परक चित्रों से क्या सम्बन्ध है? बेशक यह छाया बहुत दूर है जिसको सामाजिक वास्तविकता के निकट ले आने का काम मेहनत का है। लेकिन इस गुह्य छाया के मूल में सिद्ध की योगप्रवृत्ति है, इसे समझने में तो कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

कबीर भी एक ओर तो हिन्दुओं, मुसलमानों के बाहरी आडंबर का विरोध करते थे और जात-पाँत के ढकोसले को दूर कर सबमें प्रेमभावना का प्रचार करते थे लेकिन दूसरी ओर बेहद्दी मैदान की भी भी सैर करते थे जिसमें बारहो मास बसन्त रहता है। जहाँ जाति-बरन-कुल नहीं है; जहाँ देह-मिलावा तो नहीं होता है लेकिन सबद-मिलावा जरूर होता है। कभी-कभी वे अपने भीतर के गगन में गहिर गंभीर बादलों की गरज सुनते हैं और उनसे बरसनेवाले प्रेम के अमृत में भींगते भी हैं। साहित्यिक छाया-प्रतीक उनके सामाजिक विचारों से जो इतने दूर जा पड़े वह कैसे? इस उलटवाँसी के मूल में उनकी साधना और भक्तिवाली प्रवृत्ति नहीं तो क्या थी?

सूर ने भगवान कृष्ण की लीलाओं का जो अलौकिक रूप खड़ा कर दिया और ज्ञान-योग-मूर्ति उद्धवका निर्माण करके प्रेम-मूर्ति गोपियों द्वारा उन्हें परास्त करवाया तो उस संपूर्ण पौराणिक आख्यान तथा लीला-जगत् का संबंध तत्कालीन सामाजिक अवस्था से क्या था? वे सारी लीलाएँ भगवान की ही हैं या उनमें यह आकांक्षा भी छिपी हुई है कि संसार में ये सभी लीलाएँ उतर आयें? भगवान कृष्ण इतनी मनोहर लीला करने के लिए धरती पर अवतार क्यों लेते हैं? अपने साथ वे संपूर्ण देवलोक लेकर ब्रज में क्यों आते हैं? सारा देवलोक ब्रजमंडल में आकर गोप-गोपी क्यों बनता है? कृष्ण की सरल शिशुलीलाओं से ब्रजमण्डल को इतना आनंदित क्यों किया गया है? वह कौन-सा दुःख है जिसे भुलाने के लिए शैशव की निश्चिंत सरलता का इतना आमोदपूर्ण संसार रचा गया? ज्ञान-जोग ने वह कौन सा दुःख फैला दिया है कि सर्वत्र प्रेम का सरल मार्ग बनाया जा रहा है? अपने समाज को सुख के इस सूर-सागर में रसमग्न करने के लिए सूर ने भगवान का आश्रय क्यों लिया? विनय के पदों की व्यथा को उन्होंने लीला-पदों के आनन्द में क्यों उलट दिया? क्या यह सब अकारण और अचानक है? क्या इसके पीछे सूर की पुष्टिमार्ग-पुष्ट सगुण प्रवृत्ति नहीं है?

तुलसीदासने कलिकाल की सारी व्यथा-कथा कहने के लिए 'विनय-पत्रिका' लिखी तो भगवान राम के दरबार में भेजी। उन्हें विश्वास था कि उनके राम उस पर सही कर देंगे। सारा संसार उनके लिए भ्रम था। वास्तविक थे तो राम। संसार के सभी नाते-रिश्ते उनकी आँखों में स्वार्थ पर आधारित थे और नाता था तो एक राम से! राम ही उनके स्वामी, पिता, सुहृद, बन्धु सब कुछ थे। उनका विश्वास था कि सामाजिक मर्यादाओं की स्थापना के लिए भगवान राम ने अवतार लिया है और फिर उन्होंने अवतारी राम की सामाजिक मर्यादाओं के आदर्श का ऐसा वर्णन किया जैसे वे वास्तविक हों। परिवार, समाज और राज्य संबंधी अपनी मान्यताओं को तुलसी ने सामाजिक स्तर पर चित्रित न करके भगवान के अवतारी स्तर पर क्यों किया? क्या इसके पीछे उनकी विशेष दार्शनिक प्रवृत्ति नहीं थी?

यह तो हुई मध्ययुग की बात। आधुनिक युगके छायावादी कवि कभी क्षितिज के पार और कभी असीम और अनंत में क्यों उड़ते दीखते हैं? उनकी कविताओं में कहीं-कही रहस्य का झीना परदा क्यों दिखाई पड़ता है? नदी है तो समुद्र से मिलने के लिए दौड़ रही है। आकाश है तो जगती का निर्बोध आव-

रण बन जाता है। प्रियतम कभी गोधूली के धूमिल प्रकाश में आते हैं और कभी तम के परदे में। तारे मौन निमंत्रण देते हैं और तम के पार कोई दिखाई पड़ता है। जिस समय देश में स्वाधीनता के लिए संघर्ष चल रहा हो, इस प्रकार की बातें करना कहाँ तक संगत है? समसामयिक स्थिति से इस छाया-लोक का क्या सम्बन्ध? यह छायालोक समाज से कितनी दूर है? लेकिन दूसरी ओर उसी छायायुग में उन्हीं कवियों ने बादलराग, विधवा के प्रति, भिक्षुक, दान जैसी कविताएँ भी लिखीं। इन सामाजिक कविताओं से वे छायामयी कविताएँ इतनी दूर क्यों हैं? जहाँ छायालोक है वहाँ क्या कोई प्रवृत्ति नहीं है? रहस्यवादी प्रवृति की अभिव्यक्ति वह नहीं है तो क्या है?

साहित्य के इन तमाम छाया-चित्रों की एक विशेषता तो यह है कि ये अपनी सामयिक परिस्थिति से काफी दूर प्रतीत होती हैं और दूसरी विशेषता यह है कि ये छाया-चित्र प्रायः उलट गये हैं—मनुष्य की जगह भगवान का चित्र आ गया है और समाज की जगह रहस्यलोक का? दुःख की जगह सुख ने ले ली तो अव्यवस्था की जगह मर्यादा ने और सीमा की जगह असीम ने। जिन छाया-चित्रों को हम आज भ्रम समझते हैं, उन्हीं को वे कवि वास्तविक समझते थे। समाज को देखने का उनका दृष्टिकोण ऐसा था कि हर चीज़ उलटे रूप में दिखाई पड़ती थी। मर्यादा की भावना तुलसी में पैदा तो हुई अपनी समसामयिक सामाजिक अव्यवस्था से, लेकिन उन्होंने समझा कि मर्यादा की स्थापना अवतार लेकर राम करेंगे। मतलब यह कि सामाजिक मर्यादा ऊपर से उतरेगी। आधुनिक युग में पंतजी ने अपनी 'ज्योत्स्ना' में भी सुन्दर मानव मूर्तियों का अवतार आकाश से करवाया है। क्या यह पंत जी की 'यूरोपियन' प्रवृत्ति का परिणाम नहीं है?

लेकिन जिस लेखक की मति स्वयं उलट गयी हो वह छायाचित्रों के निर्माण में साहित्यकार की प्रवृत्ति का हाथ नहीं देख सकता। इस उलटी मति का सबूत यह है कि छाया-निर्माण को वे छाया के अपने नियमों का परिणाम मानते हैं गोया छायाएँ भी नियम बनाने की क्षमता रखती हैं। मतलब यह कि जिस नियम से साहित्यकार ने साहित्य की छाया बनायी उससे भिन्न कोई अन्य नियम हैं जिन्हें साहित्यिक छाया ने बनाये हैं। छाया ने अस्तित्व में आने से पहले नियम कैसे बना लिये? मति की उलटवाँसी इसी को कहते हैं। अपनी मति को उलटे छाया पर थोप दिया—जो कार्य स्वयं किया उसे छाया का कार्य मान

लिया। जिस तरह सन्तों ने अपने आदर्श को भगवान का आदर्श मान लिया, उसी तरह उलटी मति के आलोचकों ने अपनी पलायनवादी प्रवृत्ति को साहित्य पर थोप दिया। इसी भ्रम के कारण यह सिद्धान्त सामने आया कि श्रेष्ठ साहित्य तो सामयिकता से दूर रहता है और इस दूरी का कारण साहित्य का अपना नियम है। जो लेखक स्वयं सामयिक परिस्थितियों से भागता है और पलायन-वादी साहित्य रचता है वह अपनी पलायनवादी प्रवृत्ति पर पर्दा डालने के लिए कहता है कि साहित्य तो अपनी प्रवृत्ति के कारण समाज से दूर रहता है। दूसरे शब्दों में यही तर्क 'शुद्ध साहित्य' वालों का है। साहित्य की सत्ता साहित्यकार से अलग नहीं है, इसलिए साहित्य के नियमों की भी सत्ता साहित्यकार के दृष्टिकोण से भिन्न नहीं है। साहित्य में पलायनवाद साहित्यकार के पलायनवाद की छाया है।

साहित्य को समाज की छाया कहना आसान है लेकिन उस छाया को समाज में बदल कर देखना सबके लिए आसान नहीं है। साहित्य में समाज की छाया कभी-कभी इतनी उलटी पड़ती है कि शीर्षासन करनेवालों को एकदम सीधी दिखाई पड़ती है। इसलिए साहित्य की उलटी छाया को सीधे ढङ्ग से— सामाजिक छाया के रूप में देखने के लिए स्वयं पैर के बल खड़ा होना बहुत जरूरी है। जो स्वयं विचार पैदा करने का अनुभव नहीं करते बल्कि विचारों से पैदा होते हैं वे मध्ययुगीन सन्तों द्वारा पैदा किये भगवान से मनुष्य को नहीं अलगा सकते।

मिसाल के तौर पर तुलसीदास की 'विनय पत्रिका' को लें। अधिकांश आधुनिक युवक उसे भगवद्-भजन समझकर मुँह मोड़ लेते हैं। भगवान के सामने एक कवि का इस तरह विलाप करना नये लोगों को नहीं सुहाता। विलाप की गम्भीरता इसलिए भी कम हो जाती है कि संपूर्ण दुःखों का मूल इन्द्रियों और काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह इत्यादि मनोविकारों को कहा गया है। दिलचस्पी कम होने का कारण यह भी है कि सब कुछ निवेदन कर चुकने के बाद अधिकांश पदों के अन्त में भगवान की कृपा अथवा भक्ति की याचना की गई है।

लेकिन ये उलटी तस्वीरें हैं। तस्वीर को सीधा करने पर लगेगा कि वास्त-विक वस्तु तो यहाँ मानवीय वेदना ही है और वह वेदना अपने ही हृदय द्वारा निर्मित एक श्रद्धा-विश्वास-मय आदर्श के सम्मुख प्रकट होती है। वेदना की इस अभिव्यक्ति में कितनी आत्मीयता और गोपनहीनता है। इस वेदना की भाव-

भूमि भी अत्यन्त व्यापक है। न तो यह प्रेम की विरह वेदना है न किसी क्षुद्र अभाव की। वेदना है शांतिपूर्ण और स्वात्विक जीवन बिताने की। यह अनुभूति एकदम निजी भी नहीं। इसके साथ संपूर्ण समाज की व्यथा घुली-मिली है। अपने उद्धार के साथ सबके उद्धार की चिन्ता है। यह अशांति सर्वथा धार्मिक और मनोविकार-जनित ही नहीं है। लोकजीवन में व्याप्त आर्थिक, सामाजिक और नैतिक अशान्ति की भी यथास्थान छाया है। 'विनय पत्रिका' की वेदना के पीछे उससे मुक्त होने की जो प्रबल आकांक्षा और दृढ़ विश्वास है, वह मन पर अमिट छाप छोड़ जाता है।

'विनय पत्रिका' पढ़ते समय धर्म के बारे में कहे हुए मार्क्स के वे वाक्य याद आते हैं कि धार्मिक पीड़ा एक साथ ही वास्तविक पीड़ा की वास्तविक अभिव्यक्ति और वास्तविक पीड़ा के विरुद्ध विद्रोह भी है। धर्म दबाये गये जीवों की आह है, हृदय-हीन संसार की भावना है और आत्माहीन परिस्थितियों की आत्मा है।'

वास्तविक पीड़ा धार्मिक पीड़ा का रूप क्यों ले लेती है इस भ्रम पर प्रकाश डालते हुए मार्क्स ने कहा है कि धर्म, सचमुच, ऐसे मनुष्य की आत्म-चेतना और आत्म-कल्पना है जिसने या तो अपनी व्यक्तिता प्राप्त ही नहीं की या फिर उसे खो दी।

भक्ति-काव्य में समाज की वास्तविक स्थिति इस प्रकार उलट कर धार्मिक-नैतिक रूप में व्यक्त इसलिए हुई है कि भक्त कवियों का दृष्टिकोण मध्ययुग के सामाजिक विकास से सीमित था। उस समय तक मनुष्य ने प्रकृति पर इतनी विजय प्राप्त न की थी और न तो विज्ञान का इतना विकास ही हुआ था कि भगवान के स्थान पर 'मानव' की प्रतिष्ठा हो जाय। यह कार्य तो आधुनिक बुद्धिवादी आन्दोलन के साथ शुरू हुआ। संत का भ्रम ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित और सीमित है।

दृष्टिकोण की सीमा के कारण सामाजिक वास्तविकता का भ्रमपूर्ण चित्रण तो अब तक के प्रायः सभी साहित्यकारों ने किया है लेकिन उनमें से कुछ का भ्रम इतिहास समर्थित है और कुछ का इतिहास-विरोधी है। मानव समाज के इतने विकास पर भी आज के कुछ साहित्यकार जिस प्रकार अन्तर्मुखी अथवा छाया-निवासी हो रहे हैं, उसे देखकर तो यही कहना पड़ता है कि इनके लिए अब तक की सभी औद्योगिक, सामाजिक और राजनीतिक क्रांतियाँ कभी हुई ही नहीं।

मनुष्य अपने पूर्ववर्ती 'भ्रमों' से क्रमशः मुक्त होता हुआ आगे बढ़ रहा है। मनुष्य का इतिहास 'भ्रमों' का इतिहास नहीं बल्कि भ्रमों के विरुद्ध वास्तविकता

की विजय का इतिहास है। वास्तविक के ये भ्रमपूर्ण चित्र वस्तुतः एक एक युग के आदर्श हैं। इन आदर्शों की गुठली पर ही समय समय वास्तिविकता का सुन्दर रूप सामने आया है। इस गुठली को छोड़ते हुए मानव आगे बढ़ता आया है। पिछले युग की वास्तिविकता में निहित आदर्श का खंडन हम इस-लिए करते हैं उसे बदलकर किसी दूसरे आदर्श का निर्माण करना चाहते हैं। हमारी आवश्यकता हमारे आदर्शों को उत्पन्न भी करती है और समाप्त भी।

कबीर ने जब कहा था—

> शून्य मरै, अजया मरै, अनहद हू मरि जाय।
> राम सनेही ना मुवै, कह 'कबीर' समझाय ॥

तो शून्य, अजपा, अनहद आदि के बहाने वे आदर्शमात्र के मरने की बात कह रहे थे। नहीं मरनेवाला है तो राम का स्नेही मानव। भगवान मर सकते हैं लेकिन उनका भक्त मानव अमर है। आदर्श मर जाते हैं, स्नेह अमर रहता है; और यही स्नेह साहित्य की अक्षय अजस्र रसधारा है। यह रसधारा मानव हृदय से निकली है और मानव हृदयों से होकर बह रही है। 'तुलसी का भक्ति मार्ग' निबंध में इसी मानव-सत्य का उद्घाटन करते हुए आचार्य शुक्ल ने आज से पचीस साल पहले कहा था कि "उनका शस्त्र भी मानव हृदय है और और लक्ष्य भी।" इस वास्तविकता पर ज़ोर देते हुए उन्होंने एक जगह फिर कहा है कि हम तो ***जगत के बीच हृदय के सम्यक् प्रसार*** में ही भक्ति का प्रकृत लक्षण देखते हैं क्योंकि राम की ओर न ले जानेवाला रास्ता ***इसी संसारसे होता हुआ गया है!"***

रास्ता कोई अपनाइये लेकिन जाय वह संसार से ही होता हुआ; संभव है यहाँ इतिहास के पथ पर बढ़ती हुई जनवाहिनी का पंथ मिल जाय!

———

आधुनिक छंदों का विकास•

हिन्दी कविता के लगभग हजार वर्षों के लम्बे इतिहास में छन्द सम्बन्धी जितने प्रयोग अन्तिम शताब्दी में हुये, उतने कभी नहीं। मध्ययुग का सम्पूर्ण काव्य दोहा, चौपाई, हरिगीतिका, रोला, बरवै, घनाक्षरी, सवैया आदि केवल कुछ ही छन्दों तक सीमित था। निःसन्देह पिंगल ग्रन्थों में सैकड़ों प्रकार के छन्दों का विधान था और आचार्य केशवदास जैसे समर्थ कवि भी थे जिन्होंने अकेले ही दर्जनों छन्दों की बानगी दिखाई, लेकिन सामान्य प्रयोग की दृष्टि से अवधी और ब्रजभाषा की प्राचीन कविता में छन्दों की विविधता अधिक नहीं मिलती। धीरे-धीरे छन्द सम्बन्धी यह एकरसता इस दशा पर पहुँच गई थी कि मध्ययुग के अन्तिम दो सौ वर्षों में प्रायः घनाक्षरी और सवैया दो ही छन्द लिखे गये। यह एकरसता "पहली बार" आधुनिक युग में भङ्ग हुई। नव-जागरण भावना का स्वच्छन्द प्रवाह ये संकीर्ण सीमाएँ सहन न कर सकीं। हृदय के "शताब्दियों से" रुद्ध द्वार खुल गये। भावधारा अनेक दिशाओं में बह चली। जागरुक दृष्टि व्यापक दिग्देश में फैल गई। भावावेग में कंठ से अनेक स्वर फूट पड़े। भाषा के बदलते ही छन्दों का बदलना अनिवार्य हो उठा। ब्रजभाषा का स्थान खड़ी बोली ने लिया, फलतः खड़ी बोली के उच्चारण सङ्गीत के अनुसार ही कविता में नये छन्दों की भी खोज आरम्भ हुई। इस दिशा में उस समय कवियों को कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, इसका अनुमान आज की स्थिति में सहज ही नहीं किया जा सकता।

अतीत के मजे हुये स्वरों का संस्कार छोड़कर नवीन अनगढ़ स्वरों का अभ्यास करने में कितना कष्ट होता है इसका अनुमान आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के इस कथन से लगाया जा सकता है। 'भारतमित्र' को खड़ी बोली की तीन कविताएं भेजते हुये उन्होंने लिखा—'प्रचलित साधुभाषा में कुछ कविता भेजी है, देखियेगा कि इसमें क्या असर है और किस उपाय के अवलम्बन करने से इस भाषा में काव्य सुन्दर बन सकता है। तीन भिन्न छन्दों में यह अनुभव करने के लिये कि किस छन्द में इस भाषा (खड़ी बोली) का काव्य अच्छा होगा, कविता लिखी है। मेरा चित्त इसमें सन्तुष्ट न हुआ, और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ। इस

भाषा की दीर्घ क्रियाओं में दीर्घ मात्रा विशेष होने के कारण बहुत असुविधा होती है। लोग विशेष इच्छा करेंगे और स्पष्ट अनुमति प्रकाश करेंगे तो मैं और भी लिखने का यत्न करूँगा।'

भारतेन्दु की उन कविताओं में से एक इस प्रकार है—

साँझ सबेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।
हम सब इक दिन उड़ जायेंगे यह दिन चार बसेरा है।
आठ बेर नौबत बज बज कर मुझको याद दिलाती है।
जाग जाग तू देख घड़ी यह कैसी दौड़ी जाती है।

भारतेन्दु तथा उनके युग के अन्य कवियों का ऐसा विश्वास था कि खड़ी बोली की कविता ब्रजभाषा के घनाक्षरी और सवैया छन्दों में नहीं हो सकती। इसके विपरीत उनका विचार था कि उर्दू बहर में ही खड़ी बोली की कविता सफल हो सकती है। कारण स्पष्ट है। खड़ी बोली की कविता उर्दू शैली में पहले से ही होती आ रही थी, वहाँ फ़ारसी और उर्दू बहर में वह काफी मँज भी चुकी थी, उर्दू शायरों ने सुख-सुख के लिये दीर्घ मात्राओं को भी ह्रस्व करके खड़ी बोली की खरखराहट बहुत कुछ कम कर दी थी। खड़ी बोली की यह सफलता भारतेन्दु आदि की आँखों में थी। इसीलिये उन्होंने सबसे पहले उसी दिशा में क़दम उठाया। लेकिन अन्धानुकरण उन्होंने नहीं किया, उर्दू के विपरीत उन्होंने खड़ी बोली के उच्चारण की रक्षा करते हुये गद्य की ही तरह पद्य में भी दीर्घ मात्राओं के उच्चारण के लिये पूरा अवकाश दिया।

भारतेन्दु युग में ही इस तरह का अधिक सफल प्रयोग प्रताप नारायण मिश्र ने किया। उनके एक नवीन छन्द का नमूना लीजिये—

जब से देखा प्रियवर मुखचन्द्र तुम्हारा
संसार तुच्छ जंचता है मुझको सारा।
इच्छा रहती है नित्य ये शोभा देखें
लावण्यमयी यह दिव्य मधुरता देखें।
यह भाव अलौकिक भोलेपन का देखें,
इस छवि के आगे और भला क्या देखें।
आहा यह अनुपम रूप जगत से न्यारा,
संसार तुच्छ जंचता है मुझको सारा।

लेकिन यह 'संयम' सभी लोग न दिखा सके। पीछे लाला भगवानदीन, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि ने हिन्दी में उर्दू छन्दों की अविकल उद्धरणी

कर दी। परन्तु लगभग बीस पच्चीस वर्षों की सैद्धान्तिक चर्चा और प्रायोगिक प्रयत्नों के बाद यह तय-सा हो गया कि हिन्दी कविता उर्दू बहर के रास्ते नहीं चल सकती। फिर भी श्रीधर पाठक और प्रसाद जी ने एक विशेष प्रकार के फारसी छन्द में बड़ी ही ललित कवितायें लिखीं। पाठक जी की कविता का एक उदाहरण इस प्रकार है—

> कहीं पै स्वर्गीय कोई बाला सुमंजु वीणा बजा रही है।
> सुरों के संगीत की सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है॥
> कोई पुरन्दर की किंकरी है कि या किसी सुर की सुन्दरी है।
> वियोगतप्ता सी भोगमुक्ता, हृदय के उद्‌गार गा रही है॥

प्रसाद जी ने इस छन्द का प्रयोग केवल नाटकों के गीतों तक हो सीमित रखा है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक का प्रसिद्ध गीत—

> न छेड़ना उस अतीत स्मृति को
> खिंचे हुए वीन तार कोकिल।

इसी छन्द में हैं।

खड़ी हिन्दी की कविता में उर्दू बहर के प्रयोग की ओर यह आशंका शुरु से हो थी, इसलिये आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कवियों का ध्यान संस्कृत वृत्तों की ओर आकृष्ट किया। आचार्य द्विवेदी ने संस्कृत वृत्तों में हिन्दी कविता लिखकर स्वयं ही नया आदर्श प्रस्तुत किया। आचार्य के श्रीचरणों पर चलकर उनके मंडल के अनेक नये कवियों ने संस्कृत वृत्तों में फुटकर हिन्दी कविताएँ लिखीं और अन्त में हरिऔध जी ने इस तरह का एक पूरा प्रबन्ध-काव्य 'प्रिय प्रवास' लिखकर इस प्रवृत्ति को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। 'प्रिय प्रवास' ने हिन्दी कविता में संस्कृत वृत्तों के प्रयोग की सफलता, असफलता दोनों को ही अपने चरम रूप में उद्घाटित करके रख दिया। फलतः कवियों ने भीतर ही भीतर जैसे यह निर्णय सा कर लिया कि संस्कृत वृत खड़ी बोली के उच्चारण संगीत के अनुकूल नहीं हैं। बोलचाल के 'घनश्याम' संस्कृत वृत की हिन्दी कविता में जब 'घनश्याम' होने लगे तो लोगों का धैर्य छूट गया।

'रूपोधानप्रफुल्लप्रायकलिकाराकेन्दुबिम्बाननना' जैसे निष्क्रय वाक्य तो भारी पड़ते ही थे, 'आनन्द-प्रिय मित्र के उदय से पाते सभी जीव हैं' के 'आनन्द-प्रिय' जैसे उच्चारण भी खड़ी बोली के संस्कारवाले श्रवणों में कंकड़ के समान लगने लगे। फलतः प्रयोग करके कवियों ने यह रास्ता भी छोड़ दिया।

इसी तरह ब्रजभाषा के छंदों पर भी हाथ आजमा के देख लिया गया। भारतेन्दु युग के कवि तो इस ओर से निराश हो चुके थे, लेकिन द्विवेदी युग में गोपाल शरण सिंह ने खड़ी बोली में सफल घनाक्षरी लिखकर दिखला दिया कि इस दिशा में संभावनाएं समाप्त नहीं हो गई हैं। आगे चलकर "हितैषी" ने इस क्षेत्र में और भी काम किया। खड़ी बोली के इन घनाक्षरियों और सवैयों के ब्रजभाषा के मजे हुए कवियों के साथ मिलाकर देखने पर उत्तम-मद्धिम का निर्णय करना कठिन हो जाता है। इस सफलता के बावजूद नवीन भावों के अभिव्यंजन के लिये हिन्दी के ये पुराने छंद अनुकूल प्रतीत न हुये।

हिन्दी के यदि किसी प्राचीन छंद को नवीन भावों का वाहक बनाया तो हरिगीतिका को बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने। 'जयद्रथ वध' और 'भारत भारती' "जैसे दो बड़े-बड़े काव्यों के द्वारा गुप्त जी ने संपूर्ण हिन्दी प्रदेश में हरि-गीतिका की स्वरधारा बहा दी। इससे पहले हरिगीतिका को इतनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त नहीं हुई थी। कुछ दिनों तक तो ऐसा था कि हरिगीतिका और गुप्त जी लोगों के मन में पर्याय से हो गये थे।

यह छंद लोकप्रिय तो हुआ, किन्तु इसके साथ भी तो नवीन भावनाओं की संगति न बैठ सकी और आगे के कवियों ने इसके प्रति विशेष उत्साह नहीं दिखाया।

जिन दिनों खड़ी बोली की कविता इन साहित्यिक छंदों के साथ प्रयोग कर रही थी, उन्हीं दिनों कुछ लावनीबाज़ प्रकट हुये जिन्होंने लोक-प्रचलित लावनी छंद में अनेक ललित कविताएं लिखीं। उस युग में 'बनारसी', लल्लाराम, महादेव सिंह और आगरे के पन्ना बड़े प्रसिद्ध लावनीबाज़ थे। इन लोक-प्रचलित लावनियों का साहित्यिक संस्कार करके खड़ी बोली में ले आने का श्रेय श्रीधर पाठक को है। पाठक जी ने 'पार्नेल' के 'हरमिट' का अनुवाद 'एकांतवासी योगी' पूरा-का-पूरा लावनी में ही किया। लावनी की एक बानगी लें—

> आज गत इससे परदेसी चल कीजै विश्राम यहीं।
> जो कुछ वस्तु कुटी में मेरे करो ग्रहण संकोच नहीं॥
> तृण शय्या और अल्प रसोई पाओ स्वल्प प्रसाद।
> पैर पसार चलो निद्रा लो मेरा आशीर्वाद॥

और 'एकान्तवासी योगी' के मुखपृष्ठ पर छपी हुई लावनी का यह टुकड़ा तो बहुत से रसिकों के कंठ का हार हो गया था—

प्रान पियारे की गुन गाथा, साधु, कहाँ तक मैं गाऊँ ?
गाते-गाते चुके नहीं वह, चाहे मैं ही चुक जाऊँ !

उस युग के सभी कवियों में छंद-बोध पाठक जी में संभवतः सबसे अधिक था। नये-नये छंदों में प्रयोग करने का साहस जितना पाठक जी ने दिखाया, उतना किसी ने नहीं। 'अतुकांत' कविताएँ संस्कृत के वर्णवृत्तों में अवश्य हो रही थीं, किन्तु इतर मात्रिक छंदों में अतुकान्त कविता पाठक जी ने ही लिखी, यही नहीं अतुकान्त होने के साथ ही वह अविरामान्त अथवा अरुद्धान्त भी थी। और इससे भी बढ़कर उसमें जो विशेषता थी वह अंग्रेजी के स्वरपात का सा सौन्दर्य। पाठक जी की प्रसिद्ध कविता 'सान्ध्य अटन' में यह नवीन छंद-प्रयोग देखा जा सकता है।

विजन वन प्रान्त था, प्रकृति मुख शान्त था,
अटन का समय था, रजनि का उदय था।
प्रसव के काल की लालिमा में लसा
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा।
सद्य उत्फुल्ल अरविन्द निभ सुवि-
शाल नभ वक्ष पर जा रहा था चढ़ा।

उस समय छंद-प्रयोग की दिशा में दूसरी ओर कुछ लोगों का प्रयत्न काव्य-रूपों को ध्यान में रख कर चल रहा था। पुरानी कविता में प्रबंध और मुक्तक दो प्रकार के काव्य-रूपों के लिये दो प्रकार के छंदों की श्रेणियाँ निश्चित हो चुकी थीं। चौपाई-दोहा में प्रबंध काव्य और दोहा, घनाक्षरी सवैया आदि में मुक्तक लिखे जाते थे। आधुनिक कवियों के सम्मुख जब 'सानेट' 'ओड' आदि नये ढंग के प्रगीत आये तो उनके लिये नये छंदों की खोज आवश्यक हो गई। पुराने ढंग के 'पदों' में नये गीत नहीं बँध पाते थे। इस ओर नाथूराम 'शंकर' ने सबसे पहले ध्यान दिया। 'शंकर' ने अंग्रेजी सानेट के विविध 'तुकांतों' के अनुकरण पर हिन्दी में भी कई 'राजगीत' रचे लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि ये प्रयोग हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुकूल न होने के कारण प्रवाह-पतित हो गये।

इस प्रकार खड़ी हिन्दी कविता के छंद-प्रयोग का आरम्भिक युग समाप्त हुआ। अनेक दिशाओं में संभावनाओं के अन्वेषण का युग था, निःसन्देह इस युग के अनेक प्रयोग प्रचलन में न आ सके, उनमें से बहुतों की कोई परम्परा या

परिपाटी न बन सकी, फिर भी उनका ऐतिहासिक महत्व था। इन सभी प्रयत्नों की सफल परिणति छायावादी काव्य में हुई। इस समय तक आते-आते एक बात स्पष्ट हो गई कि छंद रचना का मौलिक आधार लय है। अक्षर, वर्ण, मात्रा आदि गौण तत्व हैं और ये सब भाव-लय द्वारा ही अनुशासित होते हैं।

यदि छायावाद से पहले के कवियों ने खड़ी बोली की स्वाभाविक छन्दःप्रवृत्ति अथवा छन्दःप्रकृति का निर्णय किया, तो छायावादी कवियों ने उस छन्दः-प्रकृति के मौलिक आधार भाव-लय का विचार किया। छायावाद के भावुक कवियों ने अनुभव किया कि पुराने कवि एक ही छंद में अनेक भावों की अभिव्यक्ति करके उन भावों के साथ कभी-कभी अन्याय कर बैठते थे। वस्तुतः प्रत्येक भाव की अपनी लय होती है, उसका अपना संगीत होता है, इसलिये हर छंद हर भाव का वाहन नहीं हो सकता है। विचार-जगत् के क्षेत्र में विज्ञान के कारण जो बौद्धिक विवेक की नई लहर आई उसने छंदों के क्षेत्र में इसी तरह पुनर्विचार को प्रेरित किया।

श्री सुमित्रानन्दन पंत ने पहली बार 'पल्लव' की भूमिका में हिन्दी के विविध छंदों की भाव-प्रकृति का बड़ा ही सूक्ष्म विचार किया। उन्होंने अनुभव किया कि पीयूष वर्षण, रूपमाला, सखी और प्लवंगम छंदों में करुणा है, रोला में बरसाती नाले का-सा कलनाद, रुपमाला में थकावट की मंथरता, राधिका में क्रीड़ा-प्रियता, अरिल्ल में निर्झरिणी की स्वच्छंदता और चौपई में बालचापल्य। इसी विचारपथ पर आगे बढ़ते हुये पंत जी ने उच्छ्वास, आंसू और परिवर्तन में भाव-लय के अनुसार छंद-लय और भाव-प्रवाह के अनुसार चरणों का आकार परिवर्तित किया। 'उच्छ्वास' के आरम्भ में ही भावानुकूल लय और चरणों का परिवर्तन देखा जा सकता है—

सिसकते, अस्थिर मानस से
    बाल बादल सा उठकर आज
    सरल, अस्फुट उच्छ्वास।
अपने छाया के पंखों में
नीरव घोष भरे शंखों में
    मेरे आँसू गूँथ, फैल गम्भीर मेघ सा
    आच्छादित कर ले सारा आकाश।
  यह अमूल्य मोती का साज

इन सुवर्णमय, सरस परों में
शुचि स्वभाव से भरे सरों में
तुझको पहना जगत देखे ले,...यह स्वर्गीय प्रकाश ।
मन्द विद्युत सा हँसकर
वज्र सा उर में धसकर
गरज गगन के गान ! गरज गंभीर स्वरों में
भर अपना सन्देश उरों में, औ' अधरों में
बरस धरा में, बरस सरित, गिरि, सरि, सागर में
मेरा हर सन्ताप, पाप जग का क्षण भर में ।

लेकिन भावों के अनुसार इस प्रकार लय-परिवर्तन से कभी-कभी भावों के प्रवाह में बाधा पड़ती है, संभवतः यही विचार कर पंत जी ने आगे चलकर लय का यह द्रुत परिवर्तनवाला ढंग छोड़ दिया ।

छंद-विधान में भाव-विवेक के आगमन ने ही 'स्वच्छंद छंद' अथवा मुक्त छंद संबधी प्रयोगों को जन्म दिया । कवियों ने अनुभव किया कि तुक और चरण की समता भावों के स्वच्छंद विकास में बाधक है, इसलिने पुराने छंदों की लय को लेकर ही उसमें तुक और चरण संबंधी विषमता उत्पन्न करके कवियों ने नया चमत्कार पैदा कर दिया ।

घनाक्षरी की लय को लेकर निराला जी ने सबसे पहले 'जुही की कली' नामक मुक्त छंद की रचना की ।

विजन वनवल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी
स्नेहस्वप्नमग्न अमल कोमलतनु तरुणी
जुही की कली,
दृग बंद किये, शिथिल, पत्रांक में ।
वासन्ती निशा थी,
विरह विधुर प्रिया संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल ।
आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,

आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात
फिर क्या ? पवन
उपवन...पर सरित गहन गिरि-कानन
कुंज लता पुंजों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली खिली साथ।

यह लय निराला जी की इतनी सधी हुई है कि, उन्होंने इसमें 'जागो फिर एक बार', 'पंचवटी प्रसंग', 'महाराज शिवाजी के नाम पत्र', 'प्रेयसि' आदि अनेक कविताएँ लिखीं। प्रसाद जी ने भी 'प्रलय की छाया', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' इसी छंद में लिखा और बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने बंगला 'मेघनाद वध' का अनुवाद तथा 'विकटभट' की रचना इसी प्रकार की। लेकिन गुप्त जी ने इस छंद में केवल तुक में ही विषमता दिखलाई। चरण उनके प्रसाद और निराला के विपरीत सम ही रहे।

इस छंद की सबसे बड़ी विशेषता बंगला की भाँति अक्षर-मात्रिक राग में है और यह राग व्यंजन-प्रधान है, जब तक इसमें अलंकारों की छटा अथवा मंजुल अनुप्रासमयी पदावली न हो तब तक यह सजता नहीं है। इसका सौन्दर्य इसके धारावाहिक स्वरप्रवाह में है।

पंत जी को इन्हीं कारणों से यह छंद पसंद नहीं। उनका झुकाव रोला की लय पर आधारित मुक्त छन्द को ओर अधिक है। 'पल्लव' की भूमिका में उन्होंने लिखा भी है कि "हिन्दी में रोला छंद अन्त्यानुप्रासहीन कविता के लिये विशेषेष उपयुक्त जान पड़ता है। 'रोला की साँसों में उन्हें' प्रशस्त जीवन तथा स्पंदन मिलता है।"

आगे चलकर गिरजाकुमार माथुर ने प्रायः अपने सभी मुक्त छंद रोला पर ही आधारित किये।

एक ओर परिमल सी भूमिका में निराला जी 'कवित्तछंद की बुनियाद पर मुक्त छंद की सफलता, मानते हैं तो दूसरी ओर पंत जी रोला के आधार पर। निराला जी कवित्त को हिन्दी का जातीय छंद मानते हैं तो पंत जी उसे हिन्दी का औरस जात ही नहीं मानते। वास्तविकता क्या है, इसका निर्णय तो अन्वेषक

ही करेंगे, लेकिन इन दोनों छंदों के द्वारा दोनों कवियों के अन्तःसंगीत का अंतर समझा जा सकता है। निराला में यदि कवित्त का ओजपूर्ण प्रवाह है तो पंत जी में रोला की नर्तनशील भंगिमा।

छायावाद युग में छंदोगुरु निराला ने जितने अधिक छन्दःप्रयोग किये उतने समस्त हिन्दी काव्य में अकेले किसी व्यक्ति ने नहीं किये। मुक्त छंदों के क्षेत्र से ही उन्होंने अनेक लय की कविताएँ लिखीं। उनकी प्रसिद्ध कविता 'भिक्षुक' की कुछ पंक्तियाँ सुनिये—

वह आता—
दो-टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिल कर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली के फैलाता
दो-टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

मुक्त छंद के अतिरिक्त समचरण और तुकांत छंदों के क्षेत्र में भी निराला की प्रतिभा ने अनेक नये छंद-पथ निकाले। 'तुलसीदास' शीर्षक उनकी लंबी कविता का छंद एकदम उनका अपना अन्वेषण है—

जागो-जागो, आया प्रभात
बीती वह, बीती अंध रात
झरता भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वाचल,
बाँधो, बाँधो किरणें चेतन
तेजस्वी, हे तमजिज्जीवन
आती भारत की ज्योतिर्घन महिमाबल।

लम्बी कविताओं के अतिरिक्त छायावादी कवियों ने प्रगीतों के लिये अनेक नये छंदों का विधान किया। इस क्षेत्र में प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी सभी की अपनी-अपनी विशिष्ट देन है। प्रसाद जी ने सखी छंद में 'आँसू' की रचना कर इस छंद को इतना अधिक लोकप्रिय बना दिया कि कुछ दिनों तक सर्वत्र इसी की गूँज सुनाई पड़ती थी। सखी छंद में पंत जी और महादेवी जी ने भी कुछ कविताएँ लिखीं, लेकिन आँसू के साथ इसका ऐसा अभिन्न

संबन्ध जुड़ा कि सभी जगह 'आँसू छंद' के नाम से ही विख्यात हो गया। यह हिन्दी के सफलतम गेय गीतों में से है। इसके कुछ बंद इस प्रकार हैं—

मत कहो कि यही सफलता
कलियों के लघु जीवन की
मकरन्द भरी खिल जाये
तोड़ी जाये बेमन की।

+ +

यदि दो घड़ियों का जीवन
कोमल वृन्तों पर बीते
कुछ हानि तुम्हारी है क्या
चुपचाप चू पड़ें जीते।

गीतों के क्षेत्र में गायक निराला ने अनेक नये स्वर दिये, सिद्ध स्वरों के अतिरिक्त उन्होंने लोकगीतों को भी अपने कंठ से सँवार दिया। 'अनामिका' का 'अपराजिता' शीर्षक यह गीत शुद्ध लोकगीत पर आधारित था जिसे अब भी पूर्वी प्रदेशों की स्त्रियाँ गाती हैं—

हारी नहीं, देख, आँखें...
परी नागरी की;
नभ कर गई पार पाँखें...
परी नागरी की।
तिल नीलिमा को रहे स्नेह से भर
जगकर नई ज्योति उतरी धरा पर
रंग से भरी है, हरी हो उठीं हर
तरु की तरुण तान शाखें;
परी नागरी की...
हारी नहीं, देख, आँखें।

छायावाद की रूमानी भावनाओंवाले युग के समाप्त होते ही छंदों के क्षेत्र में एक बार फिर परिवर्तन हुआ। सन् '३६ के आस-पास जिस प्रकार के सामाजिक परिवर्तन भारतीय समाज में हुये उनसे जीवन में रूमानियत का स्थान यथार्थवाद ने ले लिया। तरल भावुकता सपना हो गयी, भावुक ढंग से ललित

गीत गाने योग्य कंठ नहीं रहा। कविता में सैलाब की तरह बहुत से नये भाव और वर्ण्य विषय आये। अधिकांश कविताएं अनलंकृत अनगढ़ मुक्त छंद में होने लगीं। गद्य और पद्य के संगीत में अन्तर करना कठिन हो गया। क्रमशः दूसरे महायुद्ध की बौद्धिक कड़वाहट ने मुक्त छंद की गति और यति को प्रभावित किया। भावना-जगत् की ग्रन्थियों और उलझनों के साथ ही अंग्रेजी छंदों के अध्ययन-सापेक्ष संस्कार ने भी हिन्दी की नई कविता के छंदो-विधान को प्रभावित किया। इस दिशा में अज्ञेय और शमशेर के प्रयोग विशेष महत्वपूर्ण हैं। अज्ञेय के आरम्भिक मुक्त छंद प्रायः प्रलंबित वाक्योंवाले तथा धारावाहिक होते थे, परन्तु धीरे-धीरे उनमें संलापोचित स्वरपात और यति का समावेश हुआ। एकत्र इन सभी बातों के दर्शन 'हरी घास पर क्षण भर' के 'अकेली न जैयो राधे जमुना तीर' कविता में हो सकते हैं। एक ही कविता में नर-नारी की बात चीततथा कवि की ओर से दी हुई टिप्पणियों की भिन्न-भिन्न लय विविक्त की जाती सकती है—

'उस पार चलो ना। कितना अच्छा है नरसल का झुरमुट।'
अनमना भी सुन सका मैं
गूँजते से तप्त
अंन्तःस्वर तुम्हारे तरल कूजन में।

'अरे उस धूमिल विजन में?'
स्वर मेरा था चिकना ही, 'अब घना हो चला झुरपुट!
नदी पर ही रहे, कैसी चाँदनी सी है खिली!
'उस पार की रेती उदास है।'
'केवल बातें। हम आ जाते अभी लौट कर छिन में...'

मान कुछ, मनुहार कुछ,
कुछ व्यंग वाणी में।
दामिनी की कोर सी चमकीं अंगुलियाँ
शांत पानी में।

नदी किनारे रेती पर आता है कोई दिन में?
'कवि बने हो! युक्तियाँ हैं तभी थोथी
निरा शब्दों का विलास है।'

शमशेर के मुक्त छंदों की यह विशेषता होती है कि छिन्न चरण की यति के बाद की रिक्तता में प्रायः स्वर के भराव से पूरा करने की आकाँक्षा निहित होती है, जैसे—

बात बोलेगी
हम नहीं
भेद खोलेगी
बात ही।

इसमें स्वरों के भराव को समझने के लिये ऊपर से उसी वज़न के कुछ शब्द जोड़ कर पढ़ें तो उक्त पद्याँश का रूप कुछ इस प्रकार होगा—

बात बोलेगी
(अगर्चे) हम नहीं।
भेद खोलेगी
(हमारी) बात ही।

कभी-कभी ऐसे छिन्नप्रवाह और यतिरुद्ध छंद भली भाँति न पढ़े जाने के कारण अभीष्ट भाव की व्यंजना नहीं कर पाते।

अभी मुक्त छंद संबंधी नवीन प्रयोगों की सफलता और संभावना का निर्णय होने को है।

इनके अतिरिक्त नई कविता में लोकगीतों के प्रभाव में भी कुछ सफल गीत लिखे गये हैं। चिरनवीन निराला की विशेषता आज भी बेजोड़ है। 'अर्चना' में उन्होंने होली और फाग की धुन के कई गीत लिखे हैं। एक गीत सुनिये—

चंग चढ़ी थी हमारी
तुम्हारी डोर न टूटी
आँख लगी जो हमारी
तुम्हारी कोर न टूटी।
जीवन था बलिहार,
तुम्हारा पार न आया,
हार हुई थी हमारी
तुम्हारी जोत न फूटी।

लोकगीतों की धुन पर 'अज्ञेय' ने भी कुछ गीत लिखे हैं, उनका एक गीत है—

ओ पिया पानी बरसा !
ओ पिया पानी बरसा !
घास हरी हुलसानी
मानिक के झूमर सी
झूमी मधुमालती
झर पड़े जीते पीत अमलतास
चातकी की वेदना बिरानी।
बादलों का हाशिया है आस पास
बीच कुंजों की डार, कि
लिखी पांत काली बिजली की
असाढ़ की निशानी।
ओ पिया, पानी !
मेरा जिया हरसा
ओ पिया, पानी बरसा !

लोकगीतों की धुन पर सफल गीत लिखनेवालों में शंभूनाथ सिंह, केदारनाथ अग्रवाल, केदारनाथ सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं।

नई कविता में भवानीप्रसाद मिश्र ने एक नई अदा के छंद रचे हैं जो मस्ती का आलम लिये हुये, सहज प्रवाह में बहते चलते हैं। उनका 'गीत फरोश' मात्रा-गणना की दृष्टि से प्राचीन छंद होते हुये भी स्वर-प्रवाह की दृष्टि से नया है।

कुल मिलकर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि आज की नई हिन्दी कविता भाव के अनुकूल नये-नये छंदों की दिशा में सहज साहस के साथ अन्वेषण कर रही है और इतने विविध प्रयत्नों से हिन्दी कविता की उर्वरता का ही पता चलता है।

———

छंद में कुछ नये प्रयोग •

ये अकेले गीत स्वर-लय-हीन
मीन से बेचैन लोचन हीन गीत

कोरी विनम्रता नहीं, यह नये कवि की आत्मस्वीकृति है। अकेले की असहायता, मीन की बेचैनी और लोचनहीन की किंकर्तव्यविमूढ़ता—यह सब उसके गीतों में है। यह सब है और इनके साथ ही है—स्वर-लय का अभाव।

दरअसल, स्वर-लय के अभाव का कारण वह अंधी बेचैनी ही है। अंधी बेचैनी अर्थात् पीड़ा की तीव्रता के कारण सभी इन्द्रियाँ और कुछ अनुभव करने में असमर्थ हों। आँखों के सामने केवल पीड़ा और पीड़ा—शेष संसार कुछ नहीं, केवल अंधकार।

स्वाभाविक है कि ऐसी दशा में गति-यति का संतुलन न रहे। सर्वत्र यति-हीन गति ही गति अथवा हकलाहट, टूटे हुए वाक्य—वाक्य भी नहीं, शब्द या शब्द-खण्ड।

तुम्हारी यह मनःस्थिति अल्पसन्तोषी
सजगता मात्र उलझन की
तुम्हें केवल सतायेगी
जिनकी गति तुम्हारे हृदय की धड़कनों से बहुत कुछ मिलती है।

ऐसी आसक्ति में स्वाभाविक है कि कवि अपनी अनुभूति के हर ब्योरे के प्रति सतर्क हो। किसी बात को वह छोड़ना शायद ही पसन्द करे। यही नहीं, उसका यह भी आग्रह हो सकता है कि वह अनुभूति उसके मन में जिस विशृं-खल, अक्रम और अस्तव्यस्त रूप में मौजूद हो, उसी रूपमें उसका यथातथ अंकन कर दिया जाय। इस तरह वह अपने भावों में निहित लय को पकड़ कर ज्यों-का-त्यों उतार डालना चाहता है। आज के सभी प्रयोगशील कवि ऐसा करते हैं। किसी में यह ज्यादे है, किसी में कम। *यथातथवाद* का यह चरम रूप शमशेर में खूब मिलता है।

डूब जाती है, कहीं
जीवन में, वह
सरल शक्ति......
(म्यान सूनी है
आज)........क्यों
मृत्यु बन आई है
आसक्ति, आज ।

कविता और लम्बी है, लेकिन यदि यह न बताया जाय कि यह श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान के देहावसान पर लिखी गई है, तो यह पहेली बूझे न बूझी जायगी ।

मानसिक भावों के यथातथ अंकन की यह गति है कि यदि कोई वाक्य मन में बारबार उठ रहा हो तो कविता में उसकी आवृत्ति दस-बारह बार कर दी जाती है । जैसे शमशेर की ही 'सावन' कविता में 'तुम मेरी हद हो' 'तुम मेरे लिये हो'—ये दो वाक्य तोड़-तोड़कर एक दर्जन से ज्यादे बार लिखे गए हैं ।

भावों के चित्रण में ही नहीं बल्कि बातचीत को हूबहू उतारने में भी यही कौशल दिखाया जाता है । अज्ञेय की 'अकेली न जैयो राधे जमुना तीर' कविता में स्त्री-पुरुष के संवादों को दो लयवाले छन्दों के द्वारा व्यक्त किया गया है—

'उस पार चलो ना ! कितना अच्छा है नरसल का झुरमुट !'
अनमना भी सुन सका मैं
गूँजते से तप्त
अन्तःस्वर तुम्हारे तरल कूजन में ।
'अरे उस धूमिल विजन में ?'
स्वर मेरा था चिकना ही, 'अब घना हो चला झुटपुट ।
नदी पर ही रहें, कैसी चाँदनी-सी है खिली !
'उस पार की रेती उदास है !'

बातचीत के अलावा भी 'हर चीज में निहित लय, छन्द, संगीत को पकड़-कर कविता में उतारना' नये कवि का प्रयत्न है । चाहे समुद्र की लहर हो, या आँधी और तूफान—सबकी गति को वह अपने कंठ से सुना देना चाहता है । 'नादानुकृति' पहले एक अलंकार था, अब वह छन्द का अंग बना ली गयी

है। कभी-कभी मशीनों की चाल दिखाने की कोशिश की जाती है। मदन वात्स्यायन की 'शिफ्ट फोरमैन' कविता इसी तरह की है।

कुल मिलाकर ये कवि वास्तविकता की सतह के निष्क्रिय अनुवादक हैं। सन्निपात का चित्रण सन्निपात की भाषा में और विक्षिप्तता की विक्षिप्त लहज़े में। संकलन और चयन की आवश्यकता ही नहीं रही। यह निष्क्रियताअकारण नहीं है। नया कवि अपनी कमज़ोरी को साफ़-साफ़ क़बूल करता है—

मैं निरा विलायती स्पंज हूँ
मैं तो बाहर के जीवन को सोखकर फिर उगल देता हूँ
सो भी तब जब कोई आकर निचोड़े मुझे!

जिसके लिये समाज सिमट कर व्यक्ति बन गया हो और व्यक्ति भी क्रमशः सिमटता-सिमटता व्यक्ति से विचार, विचार से ऐन्द्रिय संवेदन और संवेदन से भी घटकर 'मूड' रह गया हो; वहाँ कवि की असहायता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। ऐसा व्यक्तित्वहीन और अशक्त व्यक्ति वास्तविकता के तथातथ अंकन का माध्यम-मात्र बनने के सिवा और कुछ नहीं कर सकता!

लेकिन इनसे भी गये बीते कवि हैं। उन्हें गति-यति की कोई परवा नहीं है। जब तुक का बंधन रहा नहीं और चरणों की समानता का भी सवाल उठ गया, फिर लगाम कैसी! एक ही छन्द है, एक ही लय है, सभी भाव उनकी नाली से बहाये जा रहे हैं। ऐसी कविताओं के लिए प्रभाकर माचवे की इस पंक्ति के सिवा और कुछ कहना बेकार है—

वे पंक्तियाँ जो कि गद्य हैं कहला सकती नहीं विचारी।
वैसे, यह पंक्ति अपना भी इज़हार करती है!

छंदों की यह सारी अव्यवस्था और अराजकता पाठक के लिये अरुचिकर भले हो, लेकिन इन सबके लिये कवि सहानुभूति का पात्र है। वह जानबूझकर ऐसा नहीं करता। ऐसे अनगढ़ छंदों के लिए वह परिस्थितियों द्वारा विवश है। यदि छंदों में संगति की कमी है तो सामाजिक जीवन में ही संगति और व्यवस्था कहाँ है!

लेकिन यह केवल एक पहलू है। इसका दूसरा पहलू भी है। इस अव्यवस्था में भी व्यवस्था की तीव्र आकांक्षा है। समाज में अनेक शक्तियाँ शान्ति और सुव्यवस्था के लिये लड़ रही हैं। स्वयं उन्हीं कवियों के वर्ग में अनेक कवि ऐसे हैं जो एक ओर सामाजिक अव्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं तो दूसरी

और छंदों में व्यवस्था लाने के लिये भी प्रयत्नशील हैं। पीड़ा उनके पास भी है, बाहरी दुनिया को वे भी देखते हैं लेकिन उसका चित्रण करने के लिए वे उनमें अन्तर्निहित लय के यथातथ अनुकरण पर माथा नहीं मारते।

'वसंती हवा' का स्वर केदारनाथ अग्रवाल के कंठों से इस प्रकार निकलता है—

हवा हूँ हवा मैं वसंती हवा हूँ
चढ़ी पेड़ महुआ
थपाथप मचाया
गिरी धम्म से फिर
चढ़ी आम ऊपर
उसे भी झकोरा
किया कान में कू
उतर कर भगी मैं
हरे खेत पहुँची
वहाँ गेहुँओं में
लहर खूब मारी
पहर दो पहर तक
अनेकों पहर तक...

इसी तरह अकेले मन की अन्यमनस्कता को भी त्रिलोचन के इस गीत के लय में देखें—

आज मैं अकेला हूँ
अकेले रहा नहीं जाता।
जीवन मिला है यह
रतन मिला है यह
फूल में
कि
धूल में
मिला है तो मिला है यह
मोल-तोल इसका
अकेले कहा नहीं जाता।

स्वयं अज्ञेय ने भी मानसिक ग्रंथियों पर काबू पाकर जहाँ उल्लास या अवसाद के गीत गाए हैं, छंद की सहज लयदारी देखने योग्य है। वसंत के उल्लास का यह गीत—

फूल कांचनार के
प्रतीक मेरे प्यार के
प्रार्थना सी अर्धस्फुट काँपती रहे कली
पत्तियों का सम्पुट निवेदिता ज्यों अंजली
आये फिर दिन मनुहार के, दुलार के
फूल कांचनार के।

लेकिन इसके बाद गीत की व्यवस्था गड़बड़ा गई है। अंत तक जाते-जाते गीत अपना आरंभिक उल्लास खोकर विशृंखल हो उठता है। यह बात अज्ञेय के अधिकांश गीतों में देखी जाती है। 'ओ पिया पानी बरसा' में भी यह गड़बड़ी दिखाई पड़ती है।

अब विचारणीय बात यह है कि अव्यवस्था के इसी युग में लिखे हुए ये छंद व्यवस्थित और मार्मिक क्यों हैं जब कि दूसरे छंद अव्यवस्थित हैं।

विश्लेषण करने से पता चलेगा कि जहाँ कवि अव्यवस्था के प्रति समर्पित है, वहाँ उसका स्वर भी अव्यवस्थित है। लेकिन जहाँ वह अव्यवस्था पर विजय प्राप्त करने की कोशिश करता है अथवा अपनी कल्पना में उसे जीत लेता है, वहाँ उसके स्वरों में व्यवस्था है। असल सवाल है, उस दायरे को तोड़ने का जो कवि की विवशताओं का है, जो इसके वर्ग द्वारा ही नहीं, बल्कि स्वयं उसके द्वारा भी निर्मित है।

अव्यवस्था, उत्पीड़न, सामाजिक त्रास आज ही नहीं है; पिछले युग के कवियों को भी इसका सामना करना पड़ा था। आज से बीस-पचीस साल पहले छायावादी छंदों को भी स्वरलयहीन कहा जाता था। लेकिन तब दूसरे कहते थे, अब कवि स्वयं कहता है। यह अंतर मामूली नहीं है। यह दो युगों की आत्मनिष्ठा और आत्म-बल का अंतर है।

विरोधियों ने छायावादी कवि को जितना ही छेड़ा, कवि का स्वर उतना ही मधुर और मोहन होता गया। यहाँ तक कि 'अकर्ण अहि' को भी मंत्रमुग्ध और नत-फन होना पड़ा। छायावादी कोकिल नीलम के पहाड़ों और चाँदी के

झरनों की दुनिया से गीत सीख कर नहीं आया था। उसके सामने भी जलते रेगिस्तान, उजड़ते जंगल और सूखते नद कम न थे। लेकिन इस कटु यथार्थ को भी उसने आकांक्षा से जीता, कल्पना से रँगा और भावना से सजाया। छायावादी 'वन-बेला' जीवन में यह ताप-त्रास भर कर ऊपर उठी थी। 'उपल-प्रहार' उस पर भी हुए थे लेकिन उसमें इतना आत्मबल था कि वह अपने वृन्त पर नाचती रही। वह नाचती इसलिए रही कि उसकी जड़ें अतल में गहराई तक गई थीं। वह मस्तक पर अतल की अतुल साँस लेकर ऊपर उठी थी।

लेकिन आज की प्रयोगशील 'बेला' गमले की है। धरती में उसकी जड़ें गहराई तक नहीं हैं। वह थोड़ी सी लाई हुई मिट्टी और खाद के सहारे जी रही है। तय है कि यह उपाय ज्यादे दिन तक नहीं चल सकता। अज्ञेय के ही शब्दों में यह कवि 'निघरा' और 'नि-जड़ा' है।

छायावादी कवि में 'भावावेग कम न था लेकिन वह भावों में विशृंखल बहता हुआ भी स्थिर' था और स्थिरता में ही प्रणयन करता था। शक्ति-साधक राम के सामने से जब देवी ने अंतिम इंदीवर उठा लिया तो सिद्धि के द्वार पहुँचे साधक को सहसा धक्का लगा! राम की उस मनःस्थिति का चित्र इस प्रकार है—

> 'धिक जीवन को जो सहता ही आया विरोध
> धिक साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध
> जानकी! आह! उद्धार, दुःख, जो न हो सका।

अंतिम पंक्ति में शोक-विह्वल टूटते हुए वाक्य में निहित लय ध्यान देने योग्य है प्रयोगशील कवि की तरह यहाँ एकदम विच्छिन्नता और अत्यंत सांकेतिकता नहीं है, फिर भी पंक्ति अपना काम कर जाती है।

आगे चलकर बच्चन ने भी 'दिन के ढलने' 'कभी इधर, कभी उधर उड़ने वाले अकेले पंछी की आकुलता', 'अनमने मन से तृन द्वारा अर्थरहित रेखायें खींचने' आदि को छन्दों में बाँधा है। साफ़ है कि 'अनमने भाव से अर्थ-रहित रेखाएँ खींचने' का चित्रण अर्थरहित रेखाएँ खींचकर नहीं किया जा सकता।

ये बातें बताती हैं कि यथार्थ चित्रण में जिन कवियों को सफलतायें मिली हैं, उनका ध्यान लय की यथातथ नकल की ओर उतना नहीं था, जितना उसके यथार्थ-स्पंदन की ओर। स्थूल-स्पंदन नहीं बल्कि अन्तःस्पन्दन। आर्ष

कवियों में भी यही विशेषता थी। इसी शक्ति के द्वारा तुलसीदास ने केवल चौपाई-दोहों के द्वारा ही अनेक प्रकार की भावदशाओं को हृदयङ्गम कराने योग्य बना दिया और बाल्मीकि ने भी अनुष्टुपों से इतना बड़ा कार्य कर दिखाया। इन आर्ष छन्दों में सभी लयों को समेटने की अद्‌भुत क्षमता थी। उनमें अनन्त लचीलापन था। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि चौपाई-दोहों में सभी लोग वह लचीलापन ला सकते हैं। विशेषता उस छन्द की नहीं, छंद प्रयोग करनेवाले कवि की है।

छन्द का ढाँचा मशीन की तरह नहीं है कि जो चाहे उस ढाँचे में निर्दिष्ट भाव भर दे। छन्द को ऐसा जड़ ढाँचा वहीं लोग समझते हैं जो उसे मात्रा, वर्ण, अक्षर, तुक, गति, यति आदि बाहरी विधानों का पुंज समझते हैं। यह कवि के भावावेग से अभिन्न रूप में जुड़ा होता है। यदि वाक्य भाषा की इकाई है तो छन्द उस इकाई की भङ्गिमा है। गद्य में यह भङ्गिमा शैली की संज्ञा पाती है और पद्य में छन्द की। जहाँ गद्यवाक्य की भङ्गिमा असमर्थ रहती है, वहीं से छन्द आरम्भ होता है—'यानि वाक्यैस्तु न ब्रूयात् तानि गीतैरुदाहरेत्।'

इसी बात को छन्दोगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस प्रकार कहा है—'वाक्य जब सीधा खड़ा रहता है, तब केवल अर्थ को प्रकट करता है; परन्तु जब तिरछी भङ्गिमा में खड़ा होकर गतिशील हो उठता है तो साधारण अर्थ के अतिरिक्त और भी अनेक बातें प्रकाश करता है।'

वाक्य में यह भङ्गिमा हार्दिक विदग्धता से आती है। 'कृष्णायन' का कवि 'रामचरित मानस' की चौपाइयों को लेकर भी वह जान न डाल सका! यह अन्तर युग का तो है ही, व्यक्ति का भी बहुत कुछ है। पुराने कवित्तों और सवैयों को लेकर आज के अनेक नये कवियों ने उनमें नई लयदारी और नई प्राणवत्ता भर दी है। गिरजाकुमार माथुर ने पुराने सवैया को—

> आज है केसर रङ्ग-रँगे दिन
> रंजित शाम भी फागुन की खिली पीली कली सी.........

में नई शक्ति भर दी।

घनाक्षरी को तुक और यति की रुढ़ियों से मुक्त कर 'निराला' ने विविध भावों की छटा दिखाई और 'रोला' के 'लय' को पंत जी ने प्राणों के अनेक स्पन्दनों में ढालने में सफलता प्राप्त की।

तात्पर्य यह कि छन्द जड़ ढाँचा नहीं है और पुराने छन्दों के पुनरुद्धार का मतलब उनका यथातथ ग्रहण नहीं है। इसी तरह भावों के यथातथ अङ्कन के लिये बराबर 'कुछ नये' छन्द की टोह में रहना या एक ही कविता में जगह-जगह छंदों का बदलना भी इसी जड़ मति का परिणाम है। मात्रा, वर्ण और यति बदल देने से भावों का स्पन्दन नहीं बदल जाता। यदि कवि में सच्चे भावावेग की तड़प और परख हो तो निश्चित मात्रावाले एक ही छंद में भावों के विविध मोड़ व्यंजित हो सकते हैं; क्योंकि लय वाक्य-विन्यास में होती है, शब्द-क्रम में होती है—यहाँ तक कि स्वयं शब्द-चयन में होती है!

नये छंदों की सारी अराजकता इसी नासमझी का फल है। कष्ट तब और होता है जब अपनी इस नासमझी को हेतुवाद (रैशनलाइज़ेशन) का जामा पहनाया जाता है और छंदों की इस अव्यवस्था को सामाजिक आवश्यकता कहा जाता है। इतना ही नहीं, कुछ लोग इस अव्यवस्था को अलंकरण भी मानते हैं।

इस हेतुवाद का एक तर्क यह है कि नई कविता अनिवार्यतः पाठ्य है और छापे की मशीन, विविध टाइप और विराम-चिन्ह कविता के छंदों को प्रभावित करके उन्हें बोधगम्य बनाने में सहायक हो रहे हैं। जहाँ तक वस्तुस्थिति का प्रश्न है, यह कथन ठीक है। लेकिन इस वस्तुस्थिति के सामने कवि का आत्म-समर्पण स्वयं उसी के लिए घातक है। कविता को टाइप की जड़ सीमा में बाँध कर आज का कवि उसे कोटि-कोटि जनता तक पहुँचाने से इनकार करता है; इनकार वह इसलिए करता है कि वह उसके लिए लिखता ही नहीं, इसलिए उस तक पहुँचाने की आवश्यकता का भी अनुभव नहीं करता। वह पढ़ें लिखे बाबुओं के लिए लिखता है और उसी दायरे तक अपनी कविता घुमाने की हौंस रखता है। अफसोस है कि उस सिमटते हुए दायरे में दिन-पर-दिन कविता के प्रति अरुचि बढ़ती जा रही है और धीरे-धीरे कवियों व निजी गुट को छोड़कर उनका पाठक अब कोई नहीं रहा।

यह तय है कि यदि कविता को शक्तिशाली बनाना है और उसके छंदों को प्रेरणीय, तो कविता को श्रव्य बनाना पड़ेगा। लोकगीतों में इतनी शक्ति इसीलिए है कि वे मूलतः श्रव्य हैं। श्रव्य बनाकर ही हम कविता में जनता की अतुल शक्ति समेट सकेंगे। यदि ऐसा न करेंगे तो विविध विराम-चिन्हों और टाइपों से सुशोभित तथा उन पर निर्भर कविता शीघ्र ही खड्गबन्ध, मुरज-

बन्ध, पद्मबन्ध, सर्वतोभद्र आदि पुराने 'चित्रकाव्यों' के पथ पर जा निकलेगी। इस तरह वह 'दृश्य' बनकर रह जायगी। लेकिन उम्मीद है कि शब्दों का अभिमानी कवि कविता को सङ्गीत और चित्र दोनों ही होने से बचायेगा! दूसरों के लिए नहीं तो कम से कम अपने ही लिए।

नई कविता की भाषा*

नई कविता की भाषा को लेकर दिमाग में दो सवाल अक्सर उठते हैं। क्या बात है कि जन-साधारण तक भाषा को पहुँचाने की कोशिश में अनेक कवि एकदम 'साधारण-सी' भाषा में गिरे जा रहे हैं और दूसरी ओर 'साधारणीकरण' की सच्ची लगनवाले ईमानदार कवियों की भाषा क्रमशः असाधारणता में सिमटती जा रही है। इन दो छोरों के बीच भाषा की अनेक तहें हैं। ये सभी भाषायें अभीष्ट पाठक-समाज की रीझ-बूझ तक पहुँचने में आज थक सी रही हैं। इन कवियों को अपने उद्देश्य में जितनी ही विफलता दिखाई पड़ती है, वे उतनी ही लगन से भाषा को मीठी, मुलायम, आसान, यथातथ, चलती-फिरती बनाने की कोशिश करते जा रहे हैं। नये-से-नये तराने लाये जा रहे हैं। संस्कृत शब्दों को भारी-भरकम समझकर हल्के-फुल्के उर्दू के शब्दों के लिए जगह की जा रही है। यही नहीं, बोलियों के बीच निश्चिंत घूमते-फिरते अनेक शब्दों के उठाये जाने के दृश्य दिखाई पड़ रहें हैं। दूसरे, ज्ञान-विज्ञान और ललित कलाओं के शब्दों से भी कविता सजाई जा रही है। इस तरह शब्द-कोश बढ़ा लेने के बाद शब्दों में नाद-चित्र भरने की भी कोशिश हो रही है क्योंकि उनसे अर्थ बताने का ही काम लेना काफी नहीं है। घिसी उपमाओं, प्रतीकों, विशेषणों आदि में नया चमत्कार भी चमकाया जा रहा है। यदि इतने से भी काम नहीं चला तो विराम-संकेतों से, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइपों से, सीधे या उल्टे अक्षरों से, अधूरे वाक्यों से—सभी प्रकार के इतर साधनों से काम लिया जाता है। एक ओर ये कोशिशें हैं और दूसरी ओर इन्हीं में से कुछ कवियों के मुख से कविता के मर जाने की फुसफुसाहट भी आ रही है। लेकिन यह फुसफुसाहट भी कवि-मंडली तक ही सीमित रह जाती है। पाठकों का बहुत बड़ा दायरा इस मौत की खबर से उतना ही अनजान है जितना उसके जन्म के शुभ-समाचार से।

जिस तरह प्रयोगशाला में नब्बे मन फी-एकड़ की दर से गेहूँ की पैदावार दिखलाने की खबरें तो आती हैं लेकिन किसी खेत में उसका उपयोग नहीं दिखाई पड़ता, उसी तरह इन कविताओं के भाषा संबंधी ऊँचे प्रयोगों की बुलेटिन तो बहुत बिकती हैं लेकिन असर कहीं नहीं दीखता। अपने रहनुमा आलोचकों

की सलाह से और शायद इन बुलेटिनों की देखा-देखी भी बहुत से जनवादी कवियों ने अपनी भाषा-संबंधी लापरवाही छोड़ कर यही रास्ता अपनाया है। इस रास्ते इन्हें दाद भी मिलने लगी है। गरज कि इस समय हिन्दी कविता की रचना और आलोचना का सामान्य वातावरण प्रायः चमत्कार-पसंद है। सिनेमा में जो हवा 'बाक्स-आफिस-हिट' की है वही कविता-जगत् में चौंकाने की कला (शौक-टेकनीक) बन कर छा रही है। नया कवि अच्छी तरह देख रहा है कि पाठक और आलोचक को चौंका कर ही अपनी ओर आकृष्ट किया जा सकता है, उसे रसमग्न करके नहीं। इधर आलोचक और पाठक भी समूची कविता पर राय न देकर उसके एकाध नये शब्द, नये प्रतीक या और नहीं तो नई धुन पर ही 'वाह-वाह' करते हैं।

आज की ज्यादातर कविताओं को सुखंडी मार गई है और जो रसीली लगती हैं वे भी दरअसल हमारे ऐन्द्रिय संवेदनों को ही झनझना कर रह जाती हैं, रस-ग्राहिणी चेतना को वे छू तक नहीं पातीं, इसलिए विश्लेषण-शक्ति की कमी के कारण अनेक पाठक उनके पहले प्रभाव को ही 'रस' मान लेते हैं।

तय है कि कविता की भाषा पर इस तरह ऊपरी मुलम्मा करने से काम न चलेगा। ऊपरी साज-सिंगार ही नहीं, बल्कि दवा की ये तमाम सूइयाँ और व्यायाम के तरीके भी कविता की भाषा को तन्दुरुस्त और खूबसूरत न बना सकेंगे। उपचार के लिए ठीक निदान की जरूरत है और भाषा की इन तमाम कमजोरियों के लिए इन कविताओं के विचारों और भावों की जाँच-पड़ताल जरूरी है।

जाँच से पता चलता है कि गलती कहीं-न-कहीं विषय की 'पकड़' और 'धारणा' में ही है। इन सबके मूल में है वास्तविकता की अललटप्पू पकड़ और काल्पनिक धारणा। दूसरे शब्दों में यह मूर्तिमत्ता की कमी है। असल में इस एक कमजोरी के अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं।

पंतजी की युगवाणी से लेकर आज तक की कविताओं में जो शब्दों का लदाव और वाक्यों का लद्धड़ विन्यास दिखाई पड़ता है वह मूर्तिमत्ता की कमी के कारण। साफ है कि बदले हुए जमाने की उनकी पकड़ जड़-विचार और कोरे सिद्धान्त के रूप में है, ठोस मानस-मूर्ति के रूप में नहीं। किसी विषय की मानस-मूर्ति उसकी वैज्ञानिक परख तथा रागात्मक संबंध से बनती है। वास्तविकता से विलग ऊँचे-ऊँचे ख्याली मानवतावादी विचार कविता में किस तरह अपनी सारी पवित्रता और गरिमा खोकर थोथे, झूठे, निर्जीव, भद्दे और आरोपित से हो जाते हैं, इसे देखना हो तो पंतजी की मार्क्स-वादी, गांधीवादी और अरविंद-

वादी कविताएँ ही नहीं, बल्कि निराला, नरेन्द्र, केदार, नागार्जुन, आदि की कुछ मार्क्सवादी कविताएँ भी ली जा सकती हैं। नवीन के 'अपलक' और 'क्वासि' तथा निराला के नये प्रार्थनागीत भी ऐसे ही हैं। 'तुम वहन कर सको जनमन में मेरे विचार' के शुभ इरादे के बावजूद कवि की कविता ने उसके जड़ विचारों को ढोने से साफ इनकार कर दिया। मार्क्सवाद के खंडन-मंडन को लेकर लिखी हुई कविताओं की यह कमजोरी नहीं है कि उनका विचार गलत है। कमजोरी यह है कि वह विचार ख्याली, किताबी और बेबुनियाद है। इसीलिए उनकी भाषा सचित्र नहीं है। सचित्र-शब्द की हुलिया है जिन्दा आदमी की तरह उसका बोलना और हरकत करना। बोलते और सक्रिय शब्द जिन्दगी की क्रिया-शीलता से आते हैं, कुर्सी के अलस चिन्तन से नहीं। वैसे, विचारों से कायल करना कविता का काम है भी नहीं, घायल वह भले कर दे।

भाषा की चित्रात्मकता को जरा साफ कर लेने की जरूरत है। कविता में जिसे शाब्दिक मूर्ति या प्रतीक कहते हैं, कहानी, नाटक और उपन्यास में वही 'पात्र' है। कविता में 'मूर्ति' का मतलब उपमा, रूपक, प्रतीक आदि का आलंकारिक विधान भर नहीं है। ये सभी तो ऊपरी बातें हैं। इन सबके मूल में है असली जिन्दगी की शाब्दिक इकाई। जहाँ उपमा, रूपक, प्रतीक वगैरह कुछ न हो, वहाँ भी मूर्तिमत्ता हो सकती है। जैसे तुलसी की ये पंक्तियाँ—

> निज जननी के एकु कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान अधारा।
> सौंपेसि मोहिं तुम्हहिं गहि पानी। सब विधि सुखद परम हित जानी॥
> उतरु काह देहउँ तेहि जाई। उठि किन मोहि सिखावहु भाई॥

यहाँ 'सौंपेसि मोहिं तुम्हहिं गहि पानी' और 'उठि किन मोहि सिखावहु भाई' में दृश्य की मूर्तिमत्ता देखी जा सकती है। हाथ पकड़ कर सौंपना और मुमूर्षु आदमी से उठ कर सिखाने की प्रार्थना करना मार्मिकता को पराकाष्ठा हैं। यहाँ 'गहि' और 'उठि' ये दो क्रियायें समूची बात को मूर्तिमान कर देती है। मूर्तिमत्ता दरअसल क्रिया-व्यापार से, गतिमयता से आती है। प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत का विधान करने से ही मूर्तिमत्ता नहीं आती। दरअसल अप्रस्तुत का विधान प्रस्तुत को अच्छी तरह बिम्बित करने के लिए ही किया जाता है। मुख के वर्णन के लिए चाँद को बुलाने का अभिप्राय मुख को सचित्र रूप से दिखाना ही है। सचमुच प्रस्तुत को अच्छी तरह मूर्तिमान करने लिए अप्रस्तुत की कल्पना का सहारा लेना कवि की लाचारी है। आर्ष कविताओं में यह

अप्रस्तुत विधान कम-से-कम मिलेगा। यदि मिलेगा भी तो इस तरह कि अप्रस्तुत की सत्ता प्रस्तुत से अलग न प्रतीत होगी। जैसे 'सूली ऊपर सेज पिया की केहि विधि मिलना होय।' यहाँ 'सूली की सेज' को अप्रस्तुत मानने की ओर ध्यान ही नहीं जाता।

मुहावरे भी इसीलिए मुहावरे हैं कि उनमें मूर्तिमत्ता है। 'हाँथ कंगन को आरसी क्या', 'जले पर लोन देना', 'न नौ मन तेल होगा न राधे नाचेंगी, 'टेढ़ी-खीर' आदि कहते-कहते रूप खड़ा कर देते हैं। काव्य में नाटकों को श्रेष्ठ मानने का कारण यही मूर्तिमत्ता है।

वैसे तो किसी वस्तु के सहारे अनेक मोहक चित्रों की लड़ी लगाना भी मूर्तिमत्ता ही है लेकिन असली मूर्तिमत्ता वस्तु के यथार्थ का रूप खड़ा करने में है। इसीलिए छायावादी कल्पनाओं का काव्य सचित्र होते हुए भी सूर, तुलसी की यथार्थता के सामने छोटा पड़ता है। वस्तु किसकी तरह है, बताना आसान है, लेकिन वह क्या है इसे बिना किसी दूसरी वस्तु के सहारे बता जाना बहुत मुश्किल है।

नई कविता में भवानीप्रसाद मिश्र की 'गीत फरोश' कविता के द्वारा इस मूर्तिमत्ता को समझा जा सकता है। तारीफ तो उसकी बहुतों ने की है लेकिन ज्यादातर उसके व्यंग्य विनोद और भाषा में फेरीवाले के लहेजे के लिए। लेकिन उसका महत्व और भी गहरे जाने पर मालूम होता है। कविता पढ़ते-पढ़ते हमारे सामने फेरीवाले का रूप खड़ा हो जाता है, फिर हम देखते हैं कि यह कोई मामूली फेरीवाला नहीं बल्कि गीत बेचने वाला है। व्यंग्य की ओर ध्यान सबसे अंत में जाता है। बाजारू समाज के कवि और कविता की बेबसी अपनी पूरी मार्मिकता के साथ ध्वनित हो उठती है। भाषा में यह सादगी, यथातथता और चित्रोपमता विषय की ठोस धारणा से ही आ सकी है। कविता आगे बढ़ कर अभिनेयता की मूर्त विशेषता को भी प्रकट करती है।

लेकिन किसी वस्तु, घटना, बातचीत या कारनामे को हूबहू उतार लेना मूर्तिमत्ता नहीं है। बात और साफ करने के लिए दो कविताएँ ली जा सकती हैं। एक है सैयद मुत्तलबी फरीदाबादी की—

गाटर लेना कैसे भाई ऐसे भाई हैय्या हैय्या
बोझ उठालो बोझ उठाया महला सरका हाँ हाँ भाई
महला सरका हाँ हाँ भाई बोझ उठालो बोझ उठाया......वगैरह।

और दूसरा है धर्मवीर भारती की 'बातचीत का एक टुकड़ा' जिसमें इसी तरह प्रश्नोत्तर है लेकिन एकतरफा। थोड़ा विचार करने पर मजदूरों के इस गीत में 'बातचीत के एक टुकड़ा' से चित्रात्मकता अधिक मिलेगी। फिर भी दोनों कविताओं में बातचीत को ज्यों-का-त्यों उतारने की कोशिश कोरे तथ्यवाद में जा डूबती है। आचार्य शुक्ल जिसे 'व्यापार-शोधन' कहते थे और आज का आलोचक 'चित्र-चयन' कहता है, उसकी इनमें कमी है। मूर्त्तिमत्ता और वास्तविकता में से प्रतिनिधि और सबसे अधिक व्यंजक चित्र के चयन में है।

इसी बात को भूलने के कारण नई कविता में 'स्मृति के टुकड़ों, को ज्यों का त्यों बिखरे रूप में बटोरने की कोशिशें होती हैं। कभी-कभी वाक्य की इस अव्यवस्था को सामाजिक अव्यवस्था का प्रतिबिम्ब कह कर उचित ठहराया जाता है लेकिन सचाई यह है कि सामाजिक अव्यवस्था को दिमागी उलझन की ढाल नहीं बनाया जा सकता। उलझी बात को समझने और समझाने के लिये हमेशा सुलझी मति की जरूरत पड़ती है, और सुलझी मति प्राप्त करने के लिए किसी अच्छी सामाजिक व्यवस्था का इंतजार नहीं किया जाता। उलझी समाजव्यवस्था में ही कबीर, सूर, तुलसी जैसे महाकवि तथा मार्क्स, डार्विन जैसे सुलझे विचारक हुए हैं। पागलपन का चित्रण पागल के प्रलाप का हूबहू रेकर्ड तैयार करने से नहीं बल्कि चुने हुए दो एक चित्रों के द्वारा ही अच्छी तरह हो सकता है। इसलिए उलझी और टूटी हुई वाक्य-शृंखला आज की कविता के लिए कोई रियायती अधिकार नहीं है। दरसल सांगोपांगता या पूर्वता मूर्तिमत्ता का प्रधान गुण है, खंड चित्रण और विशृंखलता कवि की गलत रुझान और उलझी जेहनियत का नतीजा है।

इसी तरह कविता की बौद्धिकता और नीरसता की भी सारी जिम्मेवारी आज की बाजारू जिन्दगी पर डाली जाती है। यह आज की जिन्दगी का एक हिस्सा है। यदि ऐसी जिन्दगी की नीरस ऊब को अज्ञेय 'रोज' कहानी के जरिये बड़े ही सरस ढंग से दिखा सकते हैं तो कोई वजह नहीं कि कविता में वे खाहमखाह बौद्धिक और नीरस भाषा की अनिवार्यता पर जोर दें या उसे इस्तेमाल करने के लिए लाचार हों। कविता की भाषा समाज के किसी एक या अधिक हिस्से की नीरसता से नीरस नहीं होती बल्कि समाज की उस नीरसता के प्रति कवि की ख्याली और सैद्धान्तिक धारणा से नीरस होती है।

भाषा की यह नीरसता इधर-उधर मीठे-मीठे शब्दों के छोपने या रूमानी चित्रों के खपाने से नहीं जाती बल्कि समाज के साथ लेखक के अगाध प्रेम और

गहरी मानवता से दूर होती है। कवि का हृदय ही भाषा को रस से सींच सकता है, दूसरों के शब्द या अधनंगी जाँघों की तस्वीर नहीं। भाषा में माधुर्य या उदात्तता शब्दों के संघात से नहीं बल्कि कवि के भाव के साथ पाठक-समाज के घनिष्ठ संबंध से आती है—ऐसे पाठक-समाज के सम्बन्ध से जिसका अपने युग की ऐतिहासिक स्थिति से घनिष्ठ सम्बन्ध हो।

इसके लिए मध्यवर्ती कवि के व्यक्तित्व का 'साधारणीकरण' जरूरी है। भाषा के 'साधारणीकरण' की चर्चा तो आज का कवि बहुत करता है लेकिन अपने व्यक्तित्व के 'साधारणीकरण' का नाम तक नहीं लेना चाहता। सहज भाषा लिखने के लिए अपने जीवन को भी सहज बनाना होता है। सहज मन ही सहज भाषा बोल सकता है। जिन्हें समझाने के लिए भाषा लिखनी है, उन्हीं की भाषा में लिखना चाहिए, लेकिन उनकी भाषा में लिखने के लिए उनकी भाषा बोलना जरूरी है, और उनकी भाषा बोलने के लिए उनका होना पड़ेगा, उनसे बाहरी सम्बन्ध ही नहीं भीतरी सम्बन्ध भी स्थापित करना होगा। 'साधारणीकरण' अपने भावों के क्रमशः अन्दर—और अन्दर घुसते जाने से नहीं बल्कि अपने से क्रमशः बाहर—और बाहर आने से ही सम्भव है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में 'साधारणीकरण' व्यक्ति का होना कहा गया है, अभिव्यक्ति का नहीं। सारी गड़बड़ी आज की कविता में इसलिए है कि कवि 'अपने' भावों का साधारणीकरण चाहता है—उन 'अपने भावों' का जो बिल्कुल अपने हैं, जो जनसाधारण के भावों से विशिष्ट और भिन्न हैं। जानना चाहिए कि उन्हीं भावों का 'साधारणीकरण' संभव है जो मूलतः जनसाधारण के हैं और उस समाज का अंग होने के कारण कवि के 'अपने' हैं। यही न समझने के कारण ये लम्बे-लम्बे वाक्य, अधूरे वाक्य, बिना क्रिया के लुंज-पुंज की तरह लुढ़कते वाक्य कोष्ठक, विराम-चिह्न आदि हैं। दरअसल भाषा विचारों की उलझन से मुश्किल होती है जिसके लिये गंभीर हो पाना कठिन होता है, क्लिष्ट हो जाना सरल होता है।

नये-नये शब्दों के गढ़ने और दूर से ला जुटाने का भी यही रहस्य है। जानने की जरूरत है कि कविता शब्दों की संख्या से धनी नहीं होती, इस्तेमाल में आनेवाले शब्दों के 'सार्वजनिक मूल्य' से धनी होती है। अगर शब्दों से ही कविता धनी हो तो 'शब्द-कोश' सबसे धनी काव्य-ग्रन्थ होगा।

पुराने घिसे शब्दों में नया अर्थ भरने की कोशिश भी पेड़ काटकर पल्लव सींचने की तरह है। शब्दों में अर्थ जीवन भरता है, जीवन ही वह अर्थ-सत्ता है

जिससे शब्द हरे हैं। सुबह और शाम की किरणें बरसे हुये खाली बादल में महज रंगसाजी कर सकती हैं, उन्हें जीवन-दान तो ताल-तलैया, नदी-नद और सागर वाली धरती ही दे सकती है। यही दशा शब्दों की है। शब्द भावों के आवेग से चालित होकर नया अर्थ ध्वनित करते हैं, पहले से ही उनमें नया चमत्कार भर कर उन्हें भावों की धारा में नहीं झोंका जाता। यह काम ठंढी नग-जड़ाई का नहीं है।

छंद भी भाषा की ही भंगी है और कविता में यह वाक्य-विन्यास का ही अंग है। विशेष गति में आते ही भाषा छंदमयी हो जाती है। इसीलिए एक भाषा का छंद दूसरी भाषा की जमीन पर उगने से इनकार करता है और जबर्दस्ती उगाने की कोशिश में उस जमीन को भी खराब करता है। हिन्दी को बंगला पयार छंद में चला कर लोगों ने देख लिया है। लेकिन इधर अंग्रेजी ढंग के स्वर-पात देकर छंद लिखने में भी नये कवियों ने लग्गा लगाया है। संभव है खड़ी बोली में स्वरपात की संभावनायें हों, लेकिन इन स्वर-पातों ने अब तक अजनवो तमाशा ही दिखाया है। बहुतों ने तो अपनी गति-मति सम्बन्धी कमजोरियों को भी छंद की विशेषता कह कर पेश किया है और आतंक से नये आलोचकों ने सिर भी हिलाया है। मुक्त छंदों के चलन ने कविता की भाषा को बिगाड़ने में काफी काम किया है। जनगीत लिखने की शेखी में हल-जुते बैल के हाँकने की किसानी भाषा को भी 'आँ-आँ बाँ-वाँ-ताँ-ताँ' के साथ कविताया गया है। इस तरह कविता को तरह-तरह की बोली बोलनेवाले जानवरों का अजायबघर बनाना कविता के साथ मजाक करना है।

अंत में आज से कई वर्ष पहले आचार्य शुक्ल की कही हुई बात को बड़े खेद के साथ फिर दुहराना पड़ता है कि खड़ी बोली की कविता उर्दू में जितनी मंजी, उतनी हिन्दी में नहीं! छायावाद के बाद बच्चन, नरेन्द्र और सुभद्रा-कुमारी चौहान ने इस दिशा में कुछ आशा जरूर बँधाई लेकिन नये युग के मुक्त-छंद लिखनेवाले प्रयोगवीरों ने अधूरे वाक्यों के ढेले से सारी आशा धूल में मिला दी। आज भी ये कवि उर्दू की ओर हसरतभरी निगाह से देखते हैं लेकिन उससे केवल शब्द लेते हैं, वाक्यों के मुहावरे को माँजने का ढंग नहीं। अपवाद जरूर है, लेकिन वे अपवाद ही हैं। भवानीप्रसाद मिश्र, गिरिजा-कुमार माथुर, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन और कुछ-कुछ सुमन के प्रयत्न इस दिशा में प्रशंसनीय हैं।

यह सारा काम तभी होगा जब वेर्लेस्की के शब्दों में कवि माता के आदर्श पर गर्भ की तरह कविता को धारण करेगा, झेलेगा और वैसी ही मानसिक वेदना के साथ उसे उचित समय पर जनेगा। सवाल भाषा को आसान या मुश्किल, कोमल या कठोर बनाने का नहीं, उसे सच और वास्तविक बनाने का है—शैलियाँ तो उसकी बहुत होंगी, लेकिन होगी वह बहुत कुछ ऐसी—

'सुगम-अगम मृदु-मंजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे।
जिमि मुह मुकुर-मुकुर निज पानी। गहि न जाइ अास अद्भुत बानी॥

नई कविता में लोक-भाषा का प्रभाव•

सुप्रसिद्ध समीक्षक आचार्य शुक्ल ने हिन्दी कविता में स्वच्छंततावाद के आविर्भाव पर विचार करते हुए लिखा है कि जब पंडितों की काव्य भाषा स्थिर होकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ती हुई लोकभाषा से दूर पड़ जाती है और जनता के हृदय पर प्रभाव डालने की उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है तब शिष्ट समुदाय लोकभाषा का सहारा लेकर अपनी काव्य-परम्परा में नया जीवन डालता है। प्राकृत के पुराने रूपों से लदी अपभ्रंश जब लद्धड़ होने लगी तब शिष्ट-काव्य प्रचलित देशी भाषाओं से शक्ति प्राप्त करके ही आगे बढ़ सका। यही प्राकृतिक नियम काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भी अटल समझना चाहिए। जब जब शिष्टों का काव्य पंडितों द्वारा बँधकर निश्चेष्ट और संकुचित होगा तब-तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच स्वच्छंद बहती हुई प्राकृतिक भाव-धारा के जीवन-तत्व ग्रहण करने से ही प्राप्त होगा।

यह नियम अटल तो अवश्य है परन्तु स्वच्छंदतावादी कविता के विषय में उतना लागू नहीं होता जितना आज की नई कविता के विषय में। पिछले पन्द्रह वर्षों से हिन्दी कविता में जिस वेग से लोक भाषा का प्रभाव बढ़ रहा है, वह संत भक्ति काव्य के बाद कभी नहीं दिखाई पड़ा था। 'छायावाद' के बाद कविता की ऐसी लहर आई जिसमें ग्रामीण वातावरण रच उठा। इस युग की शायद ही कोई जागरूक कविता हो जिसमें धरती, मिट्टी, फसल वगैरह का जिक्र न हो। यदि कविता-संग्रहों के ही नामों को लें तो 'ग्राम्या' से लेकर 'धरती', 'माटी की मुस्कान' जैसे बहुत से नाम ऐसे मिलेंगे जिनमें किसी न किसी प्रकार लोक जीवन से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न दिखाई पड़ेगा। कहां तो 'छायावादी' युग में कविता पुस्तकों के नाम 'पल्लव', 'गुंजन', 'परिमल', 'गीतिका', 'झरना', 'लहर', 'नीहार', 'रश्मि', वगैरह होते थे और कहाँ आज की 'ग्राम्या', 'धरती' इत्यादि।

ये मोटी-मोटी ऊपरी बातें कविता की मूल चेतना के परिवर्तन की द्योतक हैं। इनसे पता चलता है कि सन् ३६, ३७ के बाद कविता किस प्रकार कल्पना

के आकाश से उतर कर वास्तविकता की धरती पर आई और धरती पर भी उसके पांव शहरों की सीमेंट-बँधी पक्की धरती पर नहीं बल्कि गाँवों की उर्वर और कच्ची धरती पर पड़े। फिर तो 'धरती', 'मिट्टी' और 'फसल' जैसे शब्द लोक-जीवन और लोक-भाषा के रूढ प्रतीक बन गए।

कविता में यह नई चेतना अपने आप यों ही नहीं आ गई। कवियों को इसके विषय में इलहाम नहीं हुआ। यह उनकी स्वयंभू अन्तः-प्रेरणा का परिणाम नहीं है। जो लोग कुछ वर्ष पहले कल्पना के पंखों पर उड़ते थे, वे जमीन पर चलने के लिए स्वेच्छा से नहीं आए, बल्कि आने के लिये मजबूर हुए। वायवी नीड़ से झांक कर कवियों ने जब देखा कि नीचे भारतीय समाज में नवीन सामाजिक शक्तियों का अभ्युदय हो रहा है और ये सामाजिक शक्तियाँ ही हमारे इतिहास का निर्माण करने वाली है तो इस नवीन जीवनी-शक्ति के मङ्गल-गान में उन गीत-खगों के भी कंठ खुल गए। इतिहास की यह नवीन शक्ति भारत के लोक-जीवन की थी जिसमें सबसे अधिक संख्या गाँवों में रहने वाले किसानों की है तथा थोड़े से वे लोग भी हैं जो किसानी छोड़ने के लिये मजबूर किये जाने पर शहरों में आकर मजूरी कर रहे हैं और इन लोगों की संख्या तथा शक्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह लोकजागरण स्वच्छंदतावादी और छायावादी कविता के युग में ही शुरू हो गया था और गांधी जी के नेतृत्व में भारत के सात लाख गाँव अपनी स्वाधीनता-प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील थे। किन्तु उस लोक-जागरण की प्रकृति ऐसी नहीं थी जो उस युग की कविता में भी धरती की उर्वरता तथा मिट्टी की ताजी गंध आती। कविता में इन सबके समावेश का अवसर तो तब आया जब लोक-शक्तियाँ अपने अधिकारों के प्रति अत्यधिक सतर्क हो गईं।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से यह पता चलता है कि लोक जीवन ऐसी शक्ति है जो सामाजिक गतिरोध को तोड़ने के साथ ही साहित्यिक गतिरोध को भी समाप्त करती है। कविता में जब कवियों को नया मार्ग नहीं सूझता, नई दिशाएँ मेघाच्छन्न दिखाई पड़ती हैं और पुरानी चहारदीवारी से निकलने का उपाय नहीं मिलता तो लोक-शक्ति ही मशाल लेकर आगे बढ़ती है... अंधकार को चीरती है, कुहरे को छाँटती है, मार्ग को प्रशस्त करती है और

दम-घुटते कवियों की संज्ञा में प्राण-वायु का संचार करती है। नया कवि इस प्राणदायिनी लोक शक्ति के ऋण को स्वीकार करने में गौरव का अनुभव करता है और इस स्वीकृति से उसे बार-बार पुनर्जीवन मिलता है।

आज के कवियों में जो लोग अपनी शक्ति के इस मूल उत्स का अनुभव ईमानदारी से करते हैं उनकी रचना में लोक-भाषा का प्रभाव भीतर से सहज ही स्फुट होता है। जिस प्रकार कंज-कोष सूर्य के कर-स्पर्श के बावजूद अपने अन्तर के आह्लाद से आप ही आप विकसित होता है, उसी तरह आज के जागरूक कवियों में लोक-शक्ति के तादात्म्य की अनुभूति अन्तः संस्कार बन कर उनकी कविताओं में लोक-भाषा का सहज प्रस्फुटन प्रदान करती है।

यहाँ ईमानदारी के साथ हमें स्वीकार करना चाहिए कि कुछ सामाजिक कारणों से हम में से अनेक रचनाकार चाहते हुए भी लोक-जीवन के साथ तादात्म्य की गहरी अनुभूति नहीं कर पाते। इसीलिये हमारी कविताओं में लोक भाषा के शब्दों को अपनाने की महत्वाकांक्षा तो व्यक्त होती है परन्तु उन्हें खपाने का सफलता बहुत कम पाई जाती है।

इसका कारण स्पष्ट है। अनुभूति अकांक्षा से ही नहीं आती, अकांक्षा कार्यान्वित होने की ठोस प्रगति से आती है। जो ऐक्य जीवन में नहीं आ सका है, वह अनुभूति में नहीं आ सकता और जो अनुभूति में नहीं आ सका, वह अभिव्यक्ति में भी नहीं आ सकता। आकांक्षा की विवक्षा प्रायः वायवी होती है।

फिर भी 'नई कविता' में से ऐसी काफी रचनाएँ दिखाई जा सकती है जिसमें लोक-भाषा का प्रभाव अपने सहज रूप में मिलता है। इस दृष्टि से निराला, भवानीप्रसाद मिश्र, केदार अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन और एक-दम नये कवियों में वंशीधर पंड्या के कुछ प्रयत्न अत्यन्त सफल दिखाई पड़ते हैं।

भवानीप्रसाद मिश्र की 'पांके फूटे आज प्यार के, पाना बरसा री' कविता सहृदयों के बीच काफी प्रचलित है। इस गीत के दो एक बोल हैं...

फिसली सी पगडंडी, खिसली आँख लजीली री।
इन्द्र-धनुष रंगरंगी, आज मैं सहज रंगीली री।

रुन-झुन बिछिया आज, हिलाडुल मेरी बेनी री।
ऊंचे ऊंचे पेंग हिंडोला सरग निसेनी री।
और सखी सुन भोर, विजन बन दीखे घर सा री।
पीके फूटे आज प्यार के, पानी बरसा री।

धरती के कवि 'त्रिलोचन' में लोक-भाषा का प्रभाव जरा दूसरे ढंग से आया है। गीतों में लोक गीतों का रंग ले आना उतना मुश्किल नहीं है जितना वर्णनात्मक या चित्रात्मक कविताओं में। त्रिलोचन ने लोक-भाषा का आयत्तीकरण सानेट जैसे मुश्किल काव्य-रूप में दिखलाया है। सानेट में आये हुए अवधी के शब्दों से पता चलता है कि कवि का उन शब्दों से कितना घनिष्ठ और गहरा सम्बन्ध है। इधर-उधर से सुन-सुना कर इस्तमाल किये गये शब्दों में उनकी आत्मा नहीं बोलती। 'चिल्ला जाड़ा', 'झांय झांय करती दुपहरिया', 'भौर सी पगडंडी', 'ढेसर आम', 'कोल्हाड़ों का गुजौर और चोंका तथा 'सबखई और अलबेती' जैसे पद और नाम इनकी रचनाओं में एकदम खपे-खपाये, ढले-ढलाये और रचे-रचाये आते हैं।

वैसे लम्बी कविताओं में भी ग्रामीण वातावरण तथा ग्राम-प्राकृति का चित्र देते समय लोक भाषा के शब्द नये कवि ले आते है परन्तु इनका सबसे अधिक प्रचलन गीतों में ही देखा जाता है। नई कविता के गीतों को लोकगीतों में लाने का विशेष कारण है। अक्सर देखा जाता है कि जो कवि प्रायः अपनी मानसिक कुंठा का ही आस्फालन करते रहते हैं तो वे भी जब गीत लिखते हैं तो लोकगीतों के रङ्ग में उन्हें थोड़ा बोर लेते हैं। ऐसा करने का कारण यह है कि नई प्रयोगशील कविता में गीतों की सम्भावनाएँ बहुत दिनों से लुप्त जान पड़ती थीं। नये कवि की सूक्ष्म सम्वेदनाएँ तथा उनका बौद्धिक बोध प्रायः छंदों के ही विवर्तवर्त्म से गुजर सकता था। गीतों की सहज और सरल डगर पर चलना उन्हें कैशोर भावुकता प्रतीत होती थी। अपनी अनुभूति को अक्षरशः छन्दोबद्ध करने के प्रति वे इतने ईमानदार रहे हैं कि उन अनुभूतियों को गीतों के माध्यम से अतीसरलीकरण करना उन्हें किसी भी मूल्य पर स्वीकार नहीं है। ऐसी हालत में सीधे सादे गीतों का आरम्भिक प्रयोगशील कविता में न पाया जाना स्वाभाविक ही था।

किन्तु थोड़े दिनों बाद जब लोक-गीतों के रस से सिक्त नये नये गीत हिन्दी में आने लगे तो उनकी घुटन को जैसी ताजा हवा का झोंका लगा।

धुएँ से भरी कोठरी में बन्द आदमी में जो ललक खेतों की हरियाली और उनसे आती हुई हवा को देख कर उठती है और सिनेमा के पिटे पिटाये गानों से पके हुए कानों वाले शहरी लोगों को जो सुख गँवई गीतों से मिलता है, कुछ-कुछ वैसी ही ताजगी मध्यवर्गीय कुंठित कवियों को लोक गीतों में मिली। उन्होंने यह देखा कि ये गीत कुंठाओं की अविकल अभिव्यक्ति का माध्यम भले ही न बन पायें, किन्तु ये कुंठा की दवा तो हो ही सकते हैं। इस तरह ये यथारुचि और यथावकाश दोनों रास्तों पर चलने लगे। और सन्तोष की बात है कि इस दिशा में 'अज्ञेय' भारती, नरेश मेहता, केदारनाथ सिंह, रामदरश मिश्र इत्यादि कवियों को काफी सफलता मिली है।

नये नये प्रयोगों के अन्वेषी कवि 'अज्ञेय' लोक गीतों के रंग में कभी-कभार एकाध गीत लिख लेने का प्रयत्न काफी पहले से करते आ रहे हैं और सतर्कता के साथ वे अपने हर संग्रह में इस तरह का कम से कम एक गीत अवश्य देते हैं। 'इत्यलम्' में 'ओ पिया पानी बरसा' तथा 'फूल कचनार के', 'हरी घास पर क्षण भर' में 'कलंगी मौर सजाव ले कास हुए हैं बावले', 'बावरा अहेरी' में 'यह बसंत की बदली शायद आकर कहीं बरस हो जाय' जैसे गीत इस लोक रुचि के आकर्षक उदाहरण हैं।

लोकगीतों की रौ में लिखे हुए भारती के तीन गीत,—

घाट के रस्ते उस बंसवट में
इक पीली सी चिड़िया
उसका कुछ अच्छा सा नाम है
मुझे पुकारे, ताना मारे
भर आए आंखड़ियां
उन्मन ये फागुन की शाम है।

❀

अगर डोला कभी इस राह से
गुजरे कुबेला
यहां अम्बवा तरे रुक
एक पल विश्राम लेना

और—

गोरी गरोरी सोंधी धरती
कारे कारे बीज
बदरा पानी दे ।

नूतन संभावनाओं के प्रति अवस्था दृढ़ करते हैं ।

केदार नाथ सिंह के 'आज पिया पिछवारे पहरू ठनका किया' तथा 'टहनी के टूसे पतरा गए, पकड़ा को पात नए आ गए', ऐसे ही गीतों की मीठी अनुगूंज हैं। भोजपुरिया गीतों की पदावली के साथ ही उसकी मधुरी लयदारी की अनुकृति में जिन नए कवियों को विशेष सफलता मिली है, उनमें रामदरश मिश्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस तरह के गीत इन्होंने काफी लिखे हैं पर: 'चैत आया है', 'लैला बाएं से आ', जैसे कुछ ही गीत प्रकाश में आ सके हैं।

पुरानी शैली के जिन गीतकारों ने अपने को लोकगीतों के पथ पर मोड़ने के प्रयास में सफलता प्राप्त की है, उनमें शंभूनाथ सिंह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'टेर रही पिया तुम कहां' तथा 'बजते है ढोल, कहीं पूजा के बोल' जैसे गीत उनके इन नए प्रयत्नों के प्रतिनिधि नमूने हैं।

लोक-भाषा का प्रभाव नई कविता में इतनी तेजी से बढ़ रहा है कि इस पर कुछ सतर्क दृष्टि रखने की आवश्यकता अनुभव हो रही है। कुछ नाद-प्रिय कवियों का अनुमान है कि खड़ी बोली नई गीतात्मक अनुभूतियों के लिये अक्षम और अपूर्ण माध्यम है। इस अपूर्णता को वे नाना बोलियों के शब्दों तथा दीर्घ उच्चारण के अपेक्षाकृत अधिक लचीले रूप वाले स्वर से पाटने की कोशिश कर रहे हैं। नरेशमेहता का गीत 'पीले फूल कनेर' ने इस दिशा में प्रथम चरण है। उन्होंने इस रास्ते पर और भी साहसपूर्ण कदम रखे हैं, फल-स्वरूप ऐसी रचानाएं निकली है जिनकी उच्चारण-पद्धति खड़ी बोली के लिये ही नहीं बल्कि सभी हिन्दी बोलियों के लिये भी विजातीय है: वह उच्चारण-पद्धति बंगला की है। शब्द भी उनमें अनेक बोलियों के आए हैं जो ऊपर से थोपे गए मालूम होते हैं। नरेश मेहता का यह प्रयत्न चाहे जितना लघु हो, किन्तु यह संकेत-चिन्ह है उस रुचि का जो अतिरिक्त-उत्साह के आवेग में लोक-भाषा के प्रभाव ग्रहण करने की अपेक्षा उसकी दास बन जाना चाहती है।

इसलिये इस प्रसंग को समाप्त करते-करते मैं एक बार फिर हिन्दी के प्रकाशस्तम्भ आचार्य शुक्ल के शब्दों को स्मरण दिला देना चाहता हूँ। कि 'इस भावधारा की ओर दृष्टि ले जाने का अभिप्राय है उस स्वाभाविक भावधारा के ढलान की नाना अन्तर्भूमियों को परखकर शिष्ट काव्य के स्वरूप का पुनर्विधान करना। यह पुनर्विधान सामंजस्य के रूप में हो, अंध प्रतिक्रिया के रूप में नहीं, जो विपरीतता की हद तक जा पहुँचती है।'

कबीर, जायसी, सूर, तुलसी जैसे हमारे आप्त कवियों ने हिन्दी में ऐसा ही पुनर्विधान किया था और इस पीढ़ी के कवि इस दिशा में उनसे अब भी बहुत कुछ सीख सकते हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में लोक-साहित्य का स्थान•

"भारतीय हृदय का सामान्य रूप पहचानने के लिये पुराने परचित ग्राम गीतों की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है; केवल पंडितों द्वारा प्रवर्तित काव्य परम्परा का अनुशीलन ही अलम् नहीं है !"—इस बात का अनुभव आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'इतिहास' में स्वच्छंदतावादी नवीन काव्याधारा पर विचार करते समय संभवतः सं० १९८६ वि० के आस पासपास ही किया। परन्तु इस दृष्टि से हिंदी साहित्य के इतिहास का अध्ययन अभी तक नहीं हो सका। स्वयं शुक्लजी ने सूरदास के पदों और जायसी के पद्मावत के आख्यान का विश्लेषण करते समय सांकेतिक रूप से लोक-साहित्य के प्रभावों का उल्लेख किया है। सूरदास के पदों के विषय में वे लिखते हैं "अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीति-काव्य-परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।" इसी तरह जायसी के 'पद्मावत' पर उनका कहना है, "उत्तर भारत में विशेषतः अवध में, 'पद्मनी रानी और हीरामन सुए' की कहानी अबतक प्रायः उसी रूप में कही जाती है जिस रूप में जायसी ने उसका वर्णन किया है।...इस संबंध में हमारा यही अनुमान है कि जायसी ने प्रचलित कहानी को ही लेकर, सूक्ष्म ब्योरों की मनोहर कल्पना करके, उसे काव्य का सुन्दर स्वरूप दिया है।" ये बिखरे सूत्र उपयोगी हैं। परन्तु आवश्यकता है इस दृष्टि से संपूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास की प्रवहमान धारा में पाये जाने वाले लोक-साहित्य के तत्वों के खोजने की। यह कार्य इतिहासकारों की असावधानी आलस्य या अज्ञान के कारण ही नहीं रुका रहा, बल्कि लोक-साहित्य संबंधी अध्ययन का दृष्टिकोण ही कुछ और था।

हमारे यहाँ लोककथाओं, लोकगीतों तथा लोकप्रथाओं का अध्ययन १९ वीं शती के उत्तरार्ध में संभवतः ईसाई मिशनरियों ने आरम्भ किया। ये मिशनरी यूरोप के उन देशों से आये थे जहाँ औद्योगिक उत्थान, मध्यवर्ग का उदय तथा राष्ट्रीयता की जागर्ति बहुत पहले ही हो चुकी थी और इसीलिये उनके यहाँ लोक-साहित्य का अध्ययन बहुत पहले ही आरम्भ हो चुका था। हमारे

देश में धर्म प्रचार करते समय उन्होने प्रायः अपना क्षेत्र पिछड़ी हुई आदि जातियों के बीच बनाया। धर्म प्रचार के लिये आवश्यक था कि उन जातियों की भाषा और संस्कृति से परिचय हो। इसीलिये उन्होंने उन जातियोंकी भाषा साहित्य तथा प्रथाओं का अध्ययन किया। उन जातियों से सजातीयता अथवा बन्धुत्व का मधुर सम्बन्ध न होने के कारण उस अध्ययन में भी वह तन्मयता, भावुकता तथा सहृदयता न आ सकी। प्रायः सारी सामग्री तथ्यपरक रही। यों जंगलों और पहाड़ों में निवास करने वाली जातियों का साहित्य कल्पना मात्र से ही मन में रोमानी भाव भरने के लिये काफी है। लेकिन ईसाई मिशनरियों की यह तथाकथित वैज्ञानिक सामग्री प्रायः जड़ 'म्यूज़ियम रुचि' की ही वस्तु रही और इसीलिये साहित्य के इतिहासकारों को प्रत्यक्ष प्रेरणा न दे सकी। उसके प्रेरणादायक न हो सकने का एक कारण यह भी है कि उसमें अधिकांश सामग्री हिंदी साहित्य के भौगोलिक क्षेत्र के बाहर की थी।

लोक साहित्य के अध्ययन की ओर सहज भाव से स्वदेशी मध्यवर्ग राष्ट्रीय आंदोलन आरंभ होने के बाद ही उन्मुख हुआ। इसका श्रेय गांधी जी को है। पं० रामनरेश त्रिपाठी को उसी लहर से प्रेरणा मिली और वे इस क्षेत्र के पहले नहीं तो प्रारंभ करने वालों में एक हैं ही, जिन्होंने लोक साहित्य का संग्रह किसी डिग्री के लिये नहीं बल्कि रुचि और रस वश किया। उनके बाद इसी के पीछे पड़ जाने वाले देवेन्द्र सत्यार्थी का दृष्टिकोण बहुत कुछ रोमांटिक ही रहा। इसीलिये इन अध्येताओ का ध्यान प्रायः लोक गीतों तक ही सीमित रहा। यह अध्ययन भी इतिहास लेखन के कार्य में विशेष उपयोगी न हो सकता था। अवश्य ही इससे काव्य-रचना में बहुत सहायता मिली सकती थी जैसा कि त्रिपाठी जी ने करके दिखा भी दिया।

शुक्ल जी का इतिहास ऐसे ही युग में लिखा गया। इसीलिये उनकी दृष्टि अपने युग के स्वच्छंदतावादी काव्य तथा लोकसाहित्य के सम्बन्धों पर तो गई लेकिन अतीत की काव्य-परंपरा में लोक-साहित्य के समुचित योग का ओर न गई। भाषा के विकास में लोक-योग की ओर तो उनका ध्यान गया क्योंकि प्राकृत-अपभ्रंश आदि की सामग्री प्राप्त होते ही यूरोपीय विद्वानों ने १६ वीं सदी के उत्तरार्ध में ही इस तथ्य की ओर ध्यान दिया था, लेकिन साहित्य के इतिहास में यह सहयोग अनदेखा रहा। साहित्य के क्षेत्र में शुक्ल जी का ध्यान अतीत की अपेक्षा वर्तमान और भविष्य की गति-विधि का ही विधान करता दिखा, "जब

जब शिष्टों का काव्य पंडितों द्वारा बँधकर निश्चेष्ट और संकुचित होगा तब-तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच स्वच्छंद बहती हुई प्राकृतिक भाव धारा से जीवन तत्व ग्रहण करने से ही प्राप्त होगा।" इतना ही नहीं, उनकी सूक्ष्म-दृष्टि ने इस विषय में आगे बढ़कर 'उस स्वाभाविक भाव-धारा के ढलाव को नाना अन्तर्भूमियों को परखकर शिष्ट काव्य के स्वरूप का पुनर्विधान करने' की दिशा बनाई—ऐसा पुनर्विधान जो 'सामंजस्य के रूप में हो, अंध प्रतिक्रिया के रूप में नहीं।'

लोक-साहित्य के अध्ययन का अगला चरण वह आता है जब राष्ट्रीय आन्दोलन में लोक शक्तियाँ आगे बढ़कर भाग लेती हैं और जनता संपूर्ण राजनीतिक तथा सांस्कृतिक आंदोलनों का केन्द्र हो जाती, है, स्वतंत्रता का स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है; लोकतंत्र की मान्यता अधिक विस्तृत होती है। यह परि-वर्तन लगभग इस शती के चौथे दशक से दिखाई पड़ता है। इस भूमिका में लोक-साहित्य हमारी रोमानी भावना का उत्तेजक और उत्प्रेरक मात्र नहीं रहता बल्कि वह युगनिर्माता प्रतीत होता है, क्योंकि स्वयं लोकशक्तियाँ भी इतिहास-विधायक रूप में प्रकट होती हैं। उस समय महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पं० बनारसी दास चतुर्वेदी आदि की जनपदीय योजना तथा अखिल भारतीय प्रगति-शील लेखक संघ के जनपदीय कार्य-क्रम का आरंभ इसी चेतना की सूचना देता है। इसी काल में विश्वविद्यालयों ने इस विषय के निबंधों के लिये स्वीकृति और सम्मान दिया।

इस भूमिका में साहित्य के इतिहासकारों का ध्यान आकर्षित होना स्वाभा-विक है। परन्तु ध्यान आकृष्ट होना ही काफी नहीं है। उसके लिये यथोचित सामग्री तथा वैज्ञानिक ऐतिहासिक दृष्टि भी आवशक है। जहाँ तक सामग्री का संबंध है, वह बहुत कम है। राजस्थान के विद्वानों ने इस दिशा में अवश्य कुछ काम किया है। परन्तु जब तक अलग-अलग सभी जनपदों की लोक कथाओं और गीतों का संग्रह नहीं हो जाता तब-तक न तो उस सामग्री का तुलनात्मक अध्ययन ही हो सकता है और न उसके कालान्तर जन्यस्तरों विश्लेषण ही। पर्याप्त सामग्री के अभाव में सामान्य नियम चालू करना खतरे से खाली नहीं है।

सामग्री-संग्रह के साथ-साथ उस ऐतिहासिक पद्धति का भी अभ्यास होना आवश्यक है जिससे प्राप्त सामग्री का उपयोग किया जा सके। इस विषय में

अन्य देशों में होने वाले कार्यों तथा अनुभवों से लाभ उठाना स्वाभाविक है। इस पद्धति के स्पष्टीकरण से सामग्री-संग्रह में भी सहायता मिल सकती है। अस्तु।

सबसे पहली बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह कि लोक साहित्य तथा शिष्ट साहित्य का सम्बन्ध लोक और शिष्ट मानव-समूहों के सम्बन्ध पर निर्भर है; और चूँकि ये सामाजिक सम्बन्ध क्रमशः बदलते रहते हैं इसलिए लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य के सम्बन्ध भी तदनुरूप परिवर्तित होते रहे हैं इसी से यह सिद्धान्त उत्पन्न होता है कि शिष्ट साहित्य की तरह लोक साहित्य भी क्रमशः बदलता रहा है। लोक साहित्य कोई स्थिर वस्तु नहीं है। यह इसलिये कहना पड़ता है कि अनेक विद्वान बिना काल-भेद के लोक साहित्य का संग्रह और उपयोग करते हैं।

इस ऐतिहासिक विकासक्रम की बात ध्यान में न रखने के कारण प्रायः 'लोक साहित्य' को 'आदिम-साहित्य' और 'जन-साहित्य' के साथ घपला दिया जाता है।

'आदिम-साहित्य' सामान्य जन के उस युग का साहित्य है जब मानव समाज का संघटन अत्यन्त घनिष्ठ और उच्चकोटि की पारस्परिक सहकारिता पर आधारित था, नगर और गाँव का विभाजन न था; समाज शिष्ट और सामान्य व्यक्तियों में विभाजित न था अथवा था भी तो वह विभाजन बहुत मामूली तरह का था; रुचिभेद इतने बड़े पैमाने पर न था। यद्यपि आधुनिक युग ने वर्तमान आदिवासी जातियों को बहुत कुछ प्रभावित कर दिया है फिर भी उनके साहित्य से 'आदिम साहित्य' का अनुमान किया जा सकता है। परन्तु 'लोक साहित्य' इसके बाद वाले उस युग का साहित्य है जिसमें शिष्ट और सामान्य का भेद स्पष्ट और क्रमशः स्पष्टतर होता गया। 'लोक साहित्य' शब्द से ही उसके समानान्तर किसी 'शिष्ट साहित्य' के अस्तित्व का आभास मिलता है। 'लोक साहित्य' आदिम साहित्य की अपेक्षा अधिक विकसित समाज-व्यवस्था की उपज है। फिर भी 'लोक साहित्य' ने 'आदिम साहित्य' की विरासत सँभाली, जैसे—प्रीतकों, काव्यरूढ़ियों, कथानक रूढ़ियों, आदि के अतिरिक्त मुख्य विरासत है किंवदन्तियाँ गढ़ना (मिथ मेकिङ्ग)।

इधर जब से 'जन साहित्य' शब्द का प्रचलन हुआ है, 'लोक साहित्य' की सीमारेखा निर्धारित करने के लिये उसका भी ध्यान रखना आवश्यक हो

उठा है। पार्थक्य की स्पष्ट रेखा खींचने की कठिनाई के बावजूद इतना तो कहा ही जा सकता है कि 'जन साहित्य' औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न समाज-व्यवस्था की भूमिका में प्रवेश करने वाले समान्य जन का साहित्य है। इसलिये जन साहित्य लोक साहित्य से इसी अर्थ में भिन्न है कि लोक साहित्य जहाँ जनता के लिये जनता ही द्वारा रचित साहित्य है, वहाँ जन-साहित्य जनता के लिये व्यक्ति द्वारा रचित साहित्य है। 'लोक साहित्य' जनता द्वारा रचित होता है इसका अथ यह नहीं कि सारा जन समूह एक साथ बैठकर एक-एक शब्द और पंक्ति गढ़ता है। वस्तुतः लोक साहित्य भी व्यक्तियो द्वारा रचा जाता है परन्तु वह रचयिता व्यक्ति अपने सम्पूर्ण श्रोता समाज का प्रतिनिधि मात्र होता है; यदि लोक समाज भावराशि है तो रचयिता व्यक्ति अभिव्यक्ति का माध्यम। प्रायः लोक गीतों की मंडली में देखा जाता है कि एक व्यक्ति स्वर उठाता है और शेष श्रोता समाज ज्योढ़ा भर कर उसे सहारा देता चलता है। इस प्रकार श्रोता समूह अपनी सुगमता और रुचि के अनुकूल व्यक्ति-रचित कहानियों और गीतों को यथास्थान संशोधन भी करता चलता है। लोक कथाओं और गीतों में पाठभेद तथा उनके रचयिताओं के अज्ञात या अनाम होने का यही रहस्य है। अस्तु, लोक साहित्य में रचयिता व्यक्ति जन समूह का माध्यम मात्र है जब कि जन साहित्य में रचयिता व्यक्ति का अपना वैशिष्ट्य है। ऐसा इसलिये हुआ कि औद्योगिक समाज में पहले की अपेक्षा व्यक्ति-स्वातंत्र्य अथवा व्यक्तिवाद अधिक आ गया है। 'जन साहित्य' का ढाँचा भी लोक साहित्य से भिन्न होता है; वह लोक साहित्य की तरह मौखिक नहीं होता। बल्कि प्रेस द्वारा मुद्रित और प्रकाशित होता है। संक्षेप में 'जन साहित्य' शिष्ट व्यक्ति द्वारा रचा हुआ वह साहित्य है जो सह-संवेदन के फल स्वरूप सामान्य जन के लिये अभिव्यक्त होता है।

आदिम साहित्य और जन साहित्य से लोक साहित्य का अंतर स्पष्ट हो जाने के बाद लोक साहित्य की परिवर्तनशील गतिविधि को लेना चाहिये।

प्रायः लोग लोक-साहित्य को आधुनिक-युग से पूर्व तक की ही वस्तु समझते हैं और उनके संकलित गीतों का अधिकांश आधुनिक युग की उपज नहीं है, बल्कि वे मध्ययुग से ही परम्परया चले आ रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि मशीन युग ने लोकसाहित्य, विशेषतः—लोकगीतों की रचना को गहरा धक्का पहुँचाया है। यह धक्का हमारे देश में अभी उतना महसूस नहीं होता जितना यूरोपीय देशों में। शक्ति अर्जित करके फिर श्रम में तत्पर होने

के लिये—चाहे वह चक्की का गीत हो, चाहे रोपनी का; चाहे मछुए का गीत हो या गाड़ीवान का सबमें यह बात पायी जाती है। लेकिन बिजली से चलने वाली आटे की चक्की ने पुरानी चक्की के गीतों की भावुकता समाप्त कर दी। इसी प्रकार जहाजरानी और रेल ने हमारे देश के मध्ययुगीन नौका-व्यापार को इतनी गहरी ठेस पहुँचाई कि अब नावों की लम्बी यात्रा भी समाप्त हो गई और उसके साथ उन यात्राओं की कहानियाँ और गीत भी चले गये। अब तो 'एंशिएंट मैरिनर' जैसी शिष्ट साहित्य की रोमानी कहानियों में ही उनकी याद रह गई। इस तरह मध्ययुग की साजसज्जा के साथ ही मध्ययुग के लोक-गीतों के बीज भी धीरे-धीरे लुप्त हो रहे हैं। पर पुरातन का ध्वंस जिस गति से हुआ, उसी गति से अधुनातन का निर्माण नहीं हुआ। आधुनिक युग की मशीनों से हमारा रागात्मक सम्बन्ध इतना गाढ़ा नहीं हो सका है कि वे लोक-गीतों के प्रेरक बन सकें। बिजली की रोशनी फैल चली है, फिर भी मिट्टी का दीया ही हमारी कल्पनाओं और भावनाओं का संबल है। संदेशवाहन के लिए डाकतार की नवीन व्यवस्था हो गई है फिर भी शुक-सारिका-हंस आदि पक्षियों के द्वारा संदेश भेजने की मोहक कल्पना आज भी मन को रोमांचित करती है। फिर भी इन मशीनों के प्रतिक्रिया स्वरूप अनेक लोकगीत रचे गये हैं जिनमें कहीं रेल को सौत कहा गया है तो कहीं उसे बैरी। संभव है मशीनों के सम्पर्क में रहने वाले श्रमजीवियों के लोकसाहित्य में मशीनों से प्रभावित उपमाओं और कल्पनाओं को स्थान मिले। आज भी स्त्रियों के गीतों में प्राचीनता की छाप अधिक है। पुरुषों के गीत अपेक्षाकृत अधिक सामयिक और अधुनातन हैं। अपने युग की राजनीतिक और सामाजिक घटनाओं को प्रतिध्वनित करने में वर्तमान लोकसाहित्य शिष्ट साहित्य से किसी प्रकार कम नहीं है।

लोक साहित्य के क्रमिक विकास की ओर ध्यान रखते हुए भी हमें यह न भूलना चाहिए कि लोक साहित्य शिष्ट साहित्य की अपेक्षा बहुत ही परम्परा-विहित होता है। जिस प्रकार हमारे कृषि के साधनों और ग्राम संघटन के आधारों में बहुत कम परिवर्तन हुआ है, उसी प्रकार हमारे लोक साहित्य के ढाँचे में भी। 'सोने की थाली में जेवना परोसलिउँ' तथा 'लौंग खिली खिली बिरवा लगावलिउँ' पंक्तियाँ प्रायः सभी भोजपुरी लोक गीतों में भोजन के प्रसंग में निरपवाद रूप से आती हैं। इसी रूढ़ि-निर्वाह के कारण लोक प्रथाओं के अध्ययन के लिये लोक साहित्य सर्वाधिक उपयोगी समझा जाता है।

लोक साहित्य की इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर ही शिष्ट साहित्य से उसके संबंधों पर विचार करना उचित होगा।

साहित्य के इतिहास में दोनों का पारस्परिक संबंध स्थापित करते हुये तीन बातों से सावधान रहना चाहिए। एक तो यह कि हर जगह शिष्ट साहित्य पर लोक साहित्य का प्रभाव खोजना गलत होगा, दूसरा यह कि शिष्ट साहित्य अपने समसामयिक लोक साहित्य से ही प्रभाव ग्रहण नहीं करता बल्कि कभी-कभी वह लोक साहित्य की अतीत सम्पदा का भी उपयोग करता है। ऐसे स्थलों पर समसामयिकता का मोह छोड़ना ही अधिक युक्तिसंगत होगा। तीसरा यह कि साहित्य के इतिहास के निर्माण में लोक साहित्य ही सब कुछ नहीं है बल्कि वह अनेक विधायक-तत्वों में से एक है। इससे इतिहास की अनेक गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं और महान युगों की जीवनी शक्ति का पता चल सकता है। इतिहास के ह्रास युग और उत्थान युग के तुलनात्मक मूल्यांकन में भी लोक साहित्य के न्यूनाधिक प्रभाव का विश्लेषण उपादेय होता है; क्योंकि प्रायः उत्थान युग का साहित्य लोक साहित्य के अधिक निकट पड़ता है।

इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि आरम्भिक नाराशंसी वीरकाव्यों तथा प्रेमगीतों पर राजस्थानी लोकवार्ताओं का गहरा प्रभाव है। यद्यपि रासो काव्यों के कथानक पर प्रायः पूर्व-परम्परागत संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश युग की प्रसंग-रूढ़ियों का निर्वाह है, फिर भी अनेक लोकप्रचलित किंवदन्तियां दी गई हैं जो पौराणिक परम्परा से भिन्न हैं। परन्तु विरुद् काव्यों से कहीं अधिक उस युग के प्रेमकाव्य लोकगीतों से प्रभा-वित—हैं प्रभावित क्या, प्रायः लोकगीतों के ही संग्रह हैं। 'ढोला मारू रा दूहा' ऐसा ही लोककाव्य है! ऐसा प्रतीत होता है कि ये काव्य मौखिक परम्परा से बहुत दिनों तक सामान्य जन के बीच गाये जाते रहे हैं, फिर भी कुछ लोगों ने कालान्तर में उन्हें लिपिबद्ध कर दिया। अथवा किसी प्रतिभासंपन्न सुशिक्षित कवि ने उनको अपना कर परिष्कृत रूप दे दिया। 'पालि' की थेरी गाथाओं के ललित गीत, प्राकृत की 'गाहा सत्तस' अपभ्रंश में मुंज के दोहे तथा 'संनेस रास' आदि ऐसे ही काव्य हैं।

आदि युग के इन मौखिक लोकगीतों तथा प्रेमाख्यानों की पृष्ठभूमि पर हिन्दी का संत और भक्ति काव्य उदय हुआ। कबीर ने अनेक प्रचलित ऐहिक प्रेमगीतों को आध्यात्मिक छौंक देकर ज्यों का त्यों अपना लिया। कबीर के अनेक दोहे 'ढोला मारू' काव्य में ज्यों के त्यों मिलते हैं।

अंवर कुंजाँ कुरलियाँ गरजिभरे सब ताल !
जिनपैं गोविन्द बीछुटे तिनको कौण हवाल ॥

(कबीर)

राति जु सारस कुरलिया गुंजि रहे सब ताल।
जिनकी जोड़ी बीछड़ी, तिणका कवण हवाल ॥

(ढोला०)

यह तन जालौं मसि करौं, धूवां जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अग्गि ॥

(कबीर)

यहु तन जारी मसि करूँ, धूँआ जाहि सरग्गि।
मुझ प्रिय बद्दल होइ करि, बरसि बुझावइ अग्नि ॥

(ढोला०)

और मुहावरों तथा पदावली के ग्रहण का तो कहना ही क्या ! उनमें से कुछ तो ऐसी हैं, जिनकी परम्परा बड़ी पुरानी प्रतीत होती है क्योंकि उसे कई कवियों ने दुहराया है जैसे ढोला काव्य में—

'जे दिन मारू विण गया, दई ण ग्यांन गिणंत।
कहा गया है, तो कबीर में—
जे दिन गये भगति बिन ते दिन सालैं मोहिं।
और तुलसीदास के रामचरित मानस में—
जिन दिन गए राम बिनु देखे। सो विरंचि जनि पारहिं लेखे ॥

इसी प्रकार सूरसागर के सम्यक् विश्लेषण से भी अनेक महत्वपूर्ण लोक तत्वों का पता चल सकता है। सूर के पदों में अनेक प्रसंगगर्भी स्थल ऐसे हैं जो व्रजप्रदेश की लोकवार्ताओं की ओर संकेत करते हैं। कहावतों और मुहावरों का सहज प्रयोग देखकर साफ मालूम होता है कि सूरदास ने भाषा गढ़ने का प्रयत्न नहीं किया है बल्कि ज्यों को त्यों लोक प्रचलित टकसाली भाषा को उठाकर रख दिया है। बालकृष्ण के प्रति कहे हुए नन्द और यशोदा के वत्सल वाक्य व्यवहार के अतिशय निकट हैं, न कि गढ़े हुए।

'कहा कहत मामी के आगे जानत नानी नानन'
'घान को गाँव पयार तें जानौ'...'बहे जात माँगत उतराई'

'घर ही के बाढ़े' 'कतपट पर गोता मारत हौ' आदि मुहावरे ठेठ बोल चाल के हैं। सूर के केवल मुहावरों का ही अध्ययन लोकवार्ताओं के अनेक तत्वों को प्रकाश में लाने के लिये काफी है, फिर स्वर लय का अध्ययन तो बारीक बातें हैं।

इसी तरह जायसी और तुलसी का काव्य अवधखण्ड की लोक वार्ताओं की सूक्ष्म देन को प्रतिध्वनित करता है। तुलसीदास ने लोक वार्ताओं के तत्वो को कुछ सुसंस्कृत और परिष्कृत कर दिया है किन्तु जायसी में वे बातें उसी कच्चे रूप में मिलती हैं। जायसी ने लोक-प्रचलित कथा ही नहीं ली है बल्कि उनका बारहमासा भी लोक गीतों की मौखिक परम्परा से जुड़ा हुआ है। राजरानी नागमती सामान्य कृषक गृहिणी की भाँति वन-वन रोती फिरती है और उसके विलाप के समय सामान्य जनों के प्रतिनिधि कवि जायसी भूल जाते हैं कि वह रानी है। वर्षा में अपने घर को छाने-छोंपने की चिन्ता जिस प्रकार कृषक-वधू करती है उसी प्रकार रानी नागमती भी करती है भले ही वह कथन प्रतीकात्मक हो—

पुष्प नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह, मंदिर को छावा॥

'बारहमासा' की परम्परा भी हिन्दी की अपनी है। संस्कृत अपभ्रंश आदि से षड्ऋतु वर्णन की परम्परा थी, बारहमासा की नहीं। निश्चय ही इसका आधार लोक प्रचलन रहा होगा। जायसी के बारहमासा के दोहे प्रायः स्वतंत्र से हैं; सम्भव है कवि ने उन्हें लौकिक परम्परा से ज्यों का त्यों उठा लिया हो।

नहिं पावस ओहि देसरा, नहिं देवन्त बसन्त।
ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कन्त॥

जैसे दोहे का भाव इधर के एक लोक गीत में अब भी मिलता है।

पूरे 'पदमावत' में 'सूआ' का इतना महत्व लोक आख्यायिकों की याद दिलाता है; संस्कृत काव्यों में शुक की अपेक्षा 'हंस' अधिक ग्राह्य रहा है। विपत्ति पड़ने पर गौरा पार्वती और महादेव जी का आना प्रायः लोक कथाओं में रूढ़ि बन गया है और जो जायसी ने भी अपनाया है। (दे० २२ वाँ अध्याय)! पद्मिनी रानी, सिंहल द्वीप, जोगी प्रसङ्ग में गोरखनाथ आदि की ओर संकेत आदि बातें लौकिक परम्परा की रूढ़ियाँ ही हैं। लौकिक परम्परा

की दृष्टि से पद्मावत सर्वाधिक समृद्ध ग्रन्थ है—कथानक, कहावत, मुहावरा, काव्योपमा, प्रसंग-सृष्टि, रूप-वर्णन आदि सभी दृष्टियों से वह सजीव कोश है।

तुलसीदास ने शिष्ट साहित्य और सामान्य लोक दोनों हो साहित्यिक परम्पराओं को गंगा-जमुनी छटा निभाई; वहाँ लोकसाहित्य का प्रभाव बहुत छने हुए रूप में उतरा है। फिर भी सोहर आदि ग्रामीण छन्दों में रामचरित की व्यंजना करके उन्होंने अपने लोकानुराग का अच्छा परिचय दिया है।

उस युग में अवध प्रान्त के ठेठ लोकगीतों को जिस कवि ने अत्यन्त मार्मिकता के साथ अपनाया, वे थे 'बरवै नायिका भेद' के रचयिता रहीम। यों तो तुलसीदास ने भी बरवै लिखा है लेकिन रहीम के बरवै में गँवई धरती की सहज गन्ध आ बसी है। मामूली स्थिति की दीन-हीन नारी का सुख-दुख उनके बरवै में मूर्तिमान हो उठा है—

लै कै सुघर खुरपिया पिय के साथ।
छइबै एक छतरिया बरसत पाथ॥
टाट टूट घर टपकत, खटियौ टूट।
पिय की बाँह सिरहनवाँ सुख कै लूट॥

यह नायिका भेद परवर्ती परपाटीविहित साँचों से भिन्न है और इसमें भारतीय जीवन पूर्ण कटुता तथा माधुर्य के साथ उभर आया है। दरबार में ऊँचे पद पर रहते हुए भी रहीम ने सामान्य जनों की अनुभूतियों को वाणी दी, यह महत्वपूर्ण तथ्य है।

शिष्ट साहित्य का लोक-साहित्य से यह सान्निध्य पन्द्रहवीं शती के सांस्कृतिक पुनर्जागरण का परिणाम है। जिसमें सारा भारतीय समाज नीचे से ऊपर तक एक नए ढंग के रागात्मक सन्बन्ध और सहभाव का अनुभव करने लगा था। संत और भक्त कवि इस सौमनस्य के अमर गायक थे। जातिभेद और वर्णभेद की खाइयों को मानवता की सरस धारा से आप्लावित करते हुए इन लोकदर्शी कवियों ने साहित्य का वह आदर्श उपस्थित किया जिसमें सामान्य जन का हृदय अपनी पूरी संवेदना के साथ शताब्दियों बाद पहली बार उजागर हुआ। इसी बहुजन-स्पर्शी चेतना तथा सहानुभूति ने भक्ति काव्य को वह शक्ति दी जो युग-युग तक मानव-हृदय को रससिक्त कर सके। उस पराधीन और ह्रास युग में भी उच्चकोटि की काव्य रचना हुई उसका मुख्य कारण यही है कि ऊपरी धरातल के कीच-काच के नीचे

अदम्य जनसमूह की अजस्र और व्यापक अन्तः सलिला मौन किन्तु शक्तिशाली रूप में तटवर्ती भूमिभाग को प्रभावित कर रही थी। ह्रासयुगमें भी प्रत्येक महान काव्य की पीठिका में यही प्राणमयी लोकधारा रही है और जिस युग में यह लोक धारा जिस हद तक जागरूक और गतिशील रही है, वह युग उतनी ही श्रेष्ठ कृतियों का जनक रहा है।

सोलहवीं सदी के बाद लगभग दो ढाई सौ बरसों का हिन्दी-साहित्य इस लोक धारा से विच्छिन्न होकर ऊपरी धरातल के पंक में फँसा रहा। इसलिये उस युग के कवि प्रायः पुरानी रूढ़ियों पर इधर उधर पालिश लगाकर चमक पैदा करते रहे और भाषा की काटछाँट भी बोल चाल से दूर केवल शिष्टों के मनोरंजन की वस्तु रह गई। बिहारी के दोहों को इस युग का प्रतिनिधि काव्य मानकर सारी बातें स्पष्ट की जा सकती हैं। बिहारी के अनेक दोहे, गाहासत्तसई आर्या-सप्तशती आदि पूर्ववर्ती संस्कृत मुक्तकों में ज़रा ज़रा सा वैशिष्ट्य लाकर चमत्कृत करते दिखाई पड़ते हैं; परन्तु उनमें गाहासत्तसई की वह ताजगी और सादगी नहीं। ग्रामीणों के प्रति हेठ नजर से देखने वाले कवि से ऐसे काव्य के अतिरिक्त और आशा ही क्या की जा सकती है! जो कवि यह लिखता हो कि—

> सबै हँसत कर तार दै नागरता के नाँव।
> गयो गरब गुन को सरबु, गए गँवारैं गाँव॥

और जिस नागर कवि की सौन्दर्य-दृष्टि भी इतनी उच्चवर्गीय हो कि ग्राम वधू की खिल्ली उड़ाए—

> नागरि, विविध विलास तजि, बसी गवेलिनु माँहि।
> मूढनि में गनबी कि तूँ, हूठ-यौ दै इठलाहि॥

उससे यह उम्मीद करना बेकार है कि लोकसाहित्य से प्रेरणा ग्रहण करे और सामान्य जन के लिये काव्यरचना करे। रीतियुगीन साहित्य की संकीर्णता और निकृष्टता का यही रहस्य है।

पश्चात् १९ वीं सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के साथ देश में एक बार फिर समाज के विभिन्न स्तरों के अन्तर्वैयक्तिक संबंधों में गर्मी आई। नई फ़िज़ा के साथ नया मध्यवर्ग पैदा हुआ जिसका एक पाँव ग्रामीण संस्कारों में था और दूसरा अपने ऊँचे लोगों में स्थान पाने को उत्सुक। भारतेन्दु का उदय इसी संधि-बेला में हुआ जिनके साहित्य में सामान्य जन की भाव-प्रतिमा भली भाँति

प्रकट हुई। धीरे-धीरे औद्योगिक विकास के कारण पूरा समाज नगरों और गाँवों में बँट चला। एक ओर स्कूल, कालेज, कचहरी, दफ़्तर आदि में नौकरी पेशा लोगों का समुदाय और दूसरी ओर गाँवों का जातियों, वर्णों वाला किसान समुदाय। मध्ययुग-वाला वह घनिष्ठ संबंध टूट चला। भक्ति युग के समाज में जाति भेद, वर्णभेद के बावजूद पारस्परिक संबंध बना था। इस युग में जो आर्थिक जाति-व्यवस्था बनी उसमें मालिक, नौकर, शहरी, गँवार की ऐसी भेद भावना आई जिसने जनसंपर्क मात्र के प्रति घृणा जगा दी।

इधर हमारी राष्ट्रीयता ने एक ओर व्यापक क्षेत्र में प्रवेश किया है और उसमें समाज का स्वयं निचला स्तर ही उभर कर योग लेने लगा है। इस उभरती हुई सामाजिक चेतना के प्रति सहानुभूति रखनेवाले मध्यवर्गीय कवियों ने नए ढंग की साहित्य-रचना आरम्भ कर दी है। लेकिन ग्राम जीवन से यथेष्ट साहचर्य और सम्पर्क के अभाव में साहित्य के ये नए प्रयत्न सजीव तथा मार्मिक नहीं हो पा रहे हैं। फिर भी इन प्रयत्नों में लोक साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करने की ललक है, इसीलिये इनमें विकास के बीज भी हैं।

संक्षेप में यही है हिन्दी साहित्य के इतिहास में लोकसाहित्य के योगदान को रुपरेखा। अभी इस पर बिस्तार से अध्ययन करने की ज़रूरत है।

छायावादी कवियों की आलोचनात्मक उपलब्धि•

छायावादी कवियों के आलोचनात्मक विचारों का विवरण और उद्धरण बहुत से लोगों ने दिया है, लेकिन हिन्दी समीक्षा में उनके ऐतिहासिक महत्व और मौलिक देन के आकलन की कोशिश बहुत कम हुई है। यहाँ संक्षेप में इन्ही बातों की ओर संकेत किया जा रहा है।

ऐतिहासिक दृष्टि से प्रसाद, निराला और पंत ने आचार्य शुक्ल के साथ ही हिन्दी समीक्षा को प्रौढ़ बनाने में योग दिया है। बीसवीं सदी के तीसरे दशक में हिन्दी समीक्षा प्रौढ़तर प्रयोग की ओर अग्रसर हुई। इसी समय आचार्य शुक्ल ने तुलसी, जायसी, और सूर पर अपनी आरंभिक स्थापनायें प्रस्तुत कीं। पंतजी के पल्लव की ऐतिहासिक भूमिका आई, निराला जी ने 'पंत जी और पल्लव' शीर्षक विस्तृत निबंध लिखा और प्रसाद जी द्वारा 'काव्य और कला' का सूक्ष्म विवेचन हुआ। इन आलोचनाओं का वास्तविक महत्व समझने के लिये द्विवेदी-युग की समीक्षा-पीठिका को ध्यान में रखना आवश्क है। भाषा-व्याकरण-संबंधी गुण-दोष वाले काव्य-विवेचन, तारतमिक आलोचना, निर्णयात्मक रुचि, लेखकों और पुस्तकों का सतही परिचय आदि की पृष्ठभूमि पर आचार्य शुक्ल तथा छायावादी कवियों के आलोचनात्मक निबंध एक नये विचार-लोक का दर्शन कराते हैं। यहीं से हिन्दी समीक्षा संस्कृत काव्यशास्त्र तथा हिन्दी के रूढ़िवादी रूढ़ मानदंडों से ऊपर उठती है। समीक्षा के नये मान बनते हैं; 'भावों की व्यवच्छेदात्मक व्याख्या' की ओर ध्यान जाता है; सुसंस्कृत सौन्दर्य-दृष्टि का आभास मिलता है; शिल्प-सौन्दर्य का परख आरंभ होती है। संक्षेप में पहली बार हिन्दी समीक्षा में 'सूक्ष्म अन्वीक्षण बुद्धि' और 'मर्म ग्राहिणी प्रज्ञा' के दर्शन हुये। छायावादी कवियों के प्रयत्न शुक्ल जी के समीक्षा के पूरक बने।

उस युग में 'पल्लव' के प्रवेश ने व्रजभाषा काव्य के मूल्यांकन का संतुलित मान उपस्थित किया। जिस समय देव और बिहारी की चर्चा बाढ़ पर थी, पंत

जी ने आगे बढ़ कर रीतिकाव्य की सीमाओं पर प्रहार करने का साहस किया। 'तीन फुट के नखशिख के संसार' में सीमित कवि-पुंगवों के भाव और भाषा संबंधी 'शुक प्रयोग' का उद्घाटन कर पंत जी ने ऐतिहासिक कार्य किया। किन्तु खड़ी बोली के मुकाबले ब्रजभाषा का विरोध करते हुए भी उन्होंने भक्ति-काव्य की महिमा को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया। उन्हीं के शब्दों में 'उस ब्रज की उर्वशी के दाहिने हाथ में अमृत का पात्र और बायें में विष से परिपूर्ण कटोरा है'। उस पुनरुत्थान वादी युग में भी पंत जी ने केवल विकास शील परंपरा को चुना और उनकी विश्लेषणात्मक बुद्धि ने घोषणा की कि 'उस युग की वाणी में जो कुछ सुन्दर, सत्य तथा शाश्वत है उसका जीर्णोद्धार कर, उस पर प्रकाश डाल, तथा उसे हिन्दी प्रेमियों के लिये सुलभ तथा सुगम बना, हमें उसका घर-घर प्रचार करना चाहिए।' 'पल्लव' के 'प्रवेश' ने नूतन काव्य का शंख फूँका—'हमें भाषा नहीं, राष्ट्र भाषा की आवश्यकता है, पुस्तकों की नहीं, मनुष्यों की भाषा; जिसमें हम हँसते-रोते, खेलते-कूदते, लड़ते, गलेमिलते, सांस लेते और रहते हैं, जो हमारे देश की मानसिक दशा का मुख दिखलाने के लिये आदर्श हो सके...।' उत्तरार्ध में उस 'प्रवेश' ने उस भाषा के संगीत, छंद-प्रयोग तथा भेदोपभेद-द्योतक शब्दों पर विचार किया जिसका स्थायी महत्व है।

'पल्लव' की आलोचना करते हुए निराला जी जहाँ अभिनिवेश-मुक्त हो सके हैं, उनकी मर्म-ग्राहिणी प्रज्ञा ने काव्य की सूक्ष्म से सूक्ष्म विशेषताओं को पकड़ा है और यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि छायावादी कविता के लिये वैसा विदग्ध आलोचक उस युग में कोई और नहीं मिल सका था। वह आलोचना उस समय के मूल्यांकन में अत्यंत परिष्कृत रुचि का मान स्थापित करती है। इसी प्रकार 'परिमल' की भूमिका मुक्त छंद का घोषणापत्र बन कर गूँज उठी। मुक्त छंद का थोड़ा-सा संकेत उनके 'पल्लव' वाले निबंध में भी आया है। "मुक्त छंद तो वह है जो छंद की भूमि में रह कर मुक्त है।... मुक्त छंद का समर्थक उसका प्रवाह ही है।" यह निर्भ्रान्त वाक्य निराला जी ने उसी युग में लिखा था।

'प्रसाद जी के 'काव्य और कला' निबंध की महत्ता समझने के लिये बा० श्यामसुन्दरदास के 'साहित्यालोचन' के 'ललितकला' प्रकरण और

शुक्ल जी के कला-विरोधी विचारों को ध्यान में रखना जरूरी है। हिन्दी में मूर्त्त और अमूर्त्त के आधार पर ललित कलाओं के तारतमिक भेद का उस समय प्रचलन था। प्रसाद जी पहले आदमी थे, जिन्होंने इस भ्रम का निराकरण करते हुए स्पष्ट शब्दों में यहा कि 'अन्य सूक्ष्मताओं और विशेषताओं का निर्देशन करके केवल मूर्त्त और अमूर्त्त के भेद से साहित्य-कला की महत्ता स्थापित नहीं की जा सकती।' क्योंकि यह भेद भौतिक है और रूप दोनों में ही होता है। उनके अनुसार 'अमूर्त्त सौन्दर्य-बोध कहने का कोई अर्थ ही नहीं, क्योंकि सौन्दर्य बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता।'

उस निबन्ध से प्रसाद जी ने जो दूसरा महत्वपूर्ण कार्य किया, वह है भारतीयता के नाम पर फैलाये जाने वाले भ्रम का निराकरण। उन दिनों छायावादी काव्य की अनेक विशेषताओं को अभारतीय कह कर समाज-साहित्य से बहरियाने की हवा थी। प्रसाद जी ने बताया कि भारतीयता कोई 'एक' चीज नहीं है। उसमें अनेक रूचि-भेद मिलते हैं। इसलिए जिन चीजों को एक व्यक्ति अभारतीय कहने का प्रमाण जुटा सकता है, उन्हें ही भारतीय सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण भारतीय वाङ्मय से दिखाये जा सकते हैं जैसे अचेतन में चेतना का आरोप तथा दुःखांत और तथ्यवादी साहित्य-रचना।

प्रसाद जी ने तीसरा भ्रमोच्छेद 'कलावाद' के सम्बन्ध में किया। शुक्ल जी को छायावाद में 'कलावाद' की गंध मिल रही थी। उसके कारण का पता लगाते हुए उन्हें सूझा कि यह सब पश्चिम की नकल पर काव्य को 'कला' के अन्तर्गत मानने के कारण ही हो रहा है। इसलिए चट उन्होंने भारतीयता का सहारा लिया और दिखाया कि हमारे यहाँ तो काव्य को चौंसठ कलाओं में कभी लिया ही नहीं गया। प्रसाद जी ने इस 'हमारे यहाँ' की सीमा का उद्घाटन करते हुए शैवागम की कला-परम्परा सामने रखी। लेकिन इसका प्रयोजन काव्य को 'कला' के अन्दर जगह दिलाना नहीं, बल्कि शुक्ल जी की सीमित भारतीयता को व्यापक बनाना था; साथ ही शुक्ल जी द्वारा अनादृत 'कला' को उपविद्या में स्थान देना भी उद्देश्य था। लेकिन यह सब तो साधन मात्र था। साध्य यही था कि 'कला की आत्मानुभूति के साथ विशिष्ट भिन्न सत्ता नहीं।' इसी सिलसिले में प्रसाद जी का यह कथन आर्ष वाक्य की गरिमा को छूता है: "व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है।"

इस वाक्य की वाख्या करते हुए उन्होंने आगे कहा कि "सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही। कवि की अनुभूति को उसके परिणाम में हम अभिव्यक्त देखते हैं। उस अनुभूति और अभिव्यक्ति के अन्तरालवर्ती सम्बन्ध को जोड़ने के लिए हम चाहें तो कला का नाम ले सकते हैं।" 'अलंकार, वक्रोक्ति और रीति कथानक इत्यादि में कला की सत्ता' मानते हुए भी उन्होंने अपना मत प्रगट किया कि "यह सब समय-समय की मान्यता और धारणायें हैं।"

इतना होते हुए भी प्रसाद जी ने 'कलावाद' का समर्थन नहीं किया। उन्होंने स्वयं यह प्रश्न उठाया कि काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता है या कौशल-मय आकारों या प्रयोगों की ? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने उस समय जो स्थापना की वह आजके प्रयोगवादियों के लिये भी चुनौती है: "रूप के आवरण में जो स्तु सन्निहित है, वही तो प्रधान होगी।" प्रसाद जी ने इस सत्य को ठोस उदाहरण द्वारा स्पष्टकरने के लिये तुलसी और सूर के वात्सल्य-वर्णन की तुलना की और इस क्षेत्र में सूर की श्रेष्ठता का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा कि शब्दविन्यास पटुता तथा कला में किसी प्रकार से सूर से कम न होते हुए तुलसी राम के वात्सल्य की वैसी अभिव्यक्ति इस लिए नहीं कर सके कि उनमें इस विषय की आत्मानुभूति को प्रधानता न थी।

कुल मिलाकर प्रसाद जी का 'काव्य और कला' निबन्ध उस समय के गिने चुने युग-निर्माता निबन्धों में से है।

क्रमशः प्रसाद निराला और पन्त के हाथों और भी समीक्षायें सामने आईं और चौथे दशक के अधियाते-अधियाते अपने तुले हुए गुरु-गंभीर निबन्धों के साथ महादेवी जी भी समीक्षा के मैदान में आ निकलीं। छायावादी समीक्षा समृद्ध हुई। उसका अपना स्थान हो गया।

[२]

'हंस' में अक्टूबर, ३६ से अप्रैल, ३७ तक थोड़े अन्तर के साथ लगातार प्रसाद जी के रस, नाटकों में रस का प्रयोग, नाटकों का आरम्भ, रंगमंच, आरंभिक पाठ्य-काव्य तथा यथार्थवाद और छायावाद निबन्ध प्रकाशित हुए। 'नाटकों का आरम्भ' शोधपूर्ण निबंध है जिसमें प्रसाद जी ने सप्रमाण दिखाया है कि भारत मे नाटक का आरम्भ कठपुतलियों से नहीं हुआ। उनका अनुमान था कि कठपुतलियों का प्रचार सम्भवतः पाठ्य-काव्य के लिये हुआ होगा।

आधुनिक गीति नाट्यों के लिये उन्होंने प्राचीन काल में 'राग काव्यों' की परम्परा खोज निकाली। 'रंगमंच' निबन्ध के द्वारा प्रसाद जी ने 'रंगमंच' सम्बन्धी प्राचीन शब्दों का सही-सही अर्थों में जिर्णोद्धार किया। उन्होंने, जवनिका, कांड-पट, तिरस्करणी, प्रतिसीरा, ऊपटी, आदि पदों के मूल अर्थों पर गंभीर विचार किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने नये नाटकों के अनुकूल नये रंगमंच की स्थापना के लिए शास्त्रीय संबल दिया। प्रसाद जी के नाटक संबंधी विचार इस क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा अकेले हैं।

हिंदी समीक्षा को उनकी दूसरी महत्वपूर्ण देन है रस-सिद्धांत का विशदीकरण। शुक्लजी ने 'साधारणीकरण तथा व्यक्ति वैचित्र्य वाद निबन्ध में यूरोपीय नाटकों के शील-वैचित्र्य को भारतीय रस-सिद्धांत में सम्मलित करने के लिए साधारणीकरण के अतिरिक्त एक निम्न कोटि की रसानुभूति की योजना की। प्रसाद जी ने इस कल्पना का खंडन करते हुए कहा कि नाटक में अत्याचारी का अत्याचार निम्नकोटि की रसानुभूति उत्पन्न नहीं करता क्योंकि वह तो बीच का व्यापार है, अंतिम नहीं और रस में फलयोग अर्थात अंतिम संधि मुख्य होती है। प्रसाद जी ने यूरोपीय चरित्र-वैचित्र्य के सिद्धांत को अपनाने के लिए निम्नकोटि की रसानुभूति की कल्पना नहीं की; बल्कि उसे रस के साधन-स्वरूप ग्रहण करने का प्रस्ताव किया जो शुक्लजी से कहीं अधिक वैज्ञानिक है। प्रसाद जी के इस सिद्धांत की पुष्टि उनके 'स्कंदगुप्त' नाटक से भली भाँति होती है।

प्रसाद जी की तीसरी देन है छायावाद को यथार्थवाद के परिपार्श्व में रखकर देखना। अंग्रेजी समीक्षा में बहुत दिनों तक 'रोमांटिसिज्म" को "क्लासीसिज्म" के विपरीत समझते हुए विचार होता रहा, परन्तु पीछे विज्ञ समीक्षकों ने इस भूल का परिहार किया और "रोमेंटिसिज्म" को "रियलिज्म" के विपरीत मानकर देखने की चर्चा चलाई। हिन्दी में "छायावाद" के साथ यह दुर्घटना तो नहीं हुई लेकिन इसे भी रीतिकाव्य और द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता की विपरीतता का दंड भोगना पड़ा। 'स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह' कहने की हवा सी चल पड़ी! प्रसाद जी पहले आदमी हैं जिन्होने 'छायावाद' को ठीक ठीक समझने के लिये उसके विपरीत 'यथार्थवाद' को खड़ा किया और उन्होने इन्हीं दोनों को युग की प्रधान प्रवृत्ति माना।

प्रसाद जी ने जब श्री हरिश्चन्द्र को यथार्थवाद का प्रवर्तक कहा तो एक बहुत बड़े सत्य को पहिली बार मान्यता मिली जिसे आगे चलकर प्रगतिशील

समालोचक डा० रामविलास शर्मा ही भाँप सके, अन्यथा उस समय तक कोई और समीक्षक भारतेन्दु की इस विशेषता को न पहचान सका था। इतना ही नहीं प्रसाद जी ने यह भी लक्षित किया कि श्री हरिश्चन्द्र का आरंभ किया हुआ यथार्थवाद आगे भी पल्लवित होता रहेगा। उन्होने यथार्थवाद की जो परिभाषा दी वह अपने आधारभूत रूप में आज भी सही है, "महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख ...उस व्यापक दुःख संवलित मानवता को स्पर्श—करने वाला साहित्य यथार्थ वादी बन जाता है।"

उन्होने जहाँ इस यथार्थवाद की महिमा स्वीकार की, वहाँ मनोविश्लेषणवादी लेखकों की भर्त्सना भी की और उनके लिये यथार्थवाद से भिन्न 'तथ्यवाद' शब्द का प्रयोग किया। अंग्रेजी के 'नेचुरलिज्म' के लिये हिन्दी में आजकल चलने वाले 'प्रकृतवाद' शब्द से प्रसाद जी का चलाया हुआ 'तथ्यवाद' शब्द कहीं अधिक उपयुक्त है।

जहाँ तक छायावाद की व्याख्या का संबन्ध है, उसके विषयमें यह तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि प्रसाद जी ने उसे अतीत परंपरा से जोडकर बहुत बड़ा काम किया। हाँ, खींचतान में कहीं कहीं किंचित अतिरेक भी हो गया है। 'अनुभूतिमय आत्मस्पर्श' को उन्होंने जो छायावाद की कुंजी बताया वह भी बड़ी महत्वपूर्ण वस्तु है। यह भी वस्तुतः 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' से ही जुड़ी है। प्रसादजी ने छायवाद के संबंध में फैले हुए एक बहुत बड़े भ्रम का खंडन किया। वह यह कि आचार्य शुक्ल जैसे पंडित भी प्रकृति चित्रण मात्र को छायावादी काव्य का पर्याय समझने लगे थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि "यद्यपि प्रकृति का आलंबन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य धारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से संबंध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।"

इन सब के पीछे प्रसाद जी का एक जीवन-दर्शन है और यह उनकी समीक्षा की बहुत बड़ी विशेषता है। वे उन लोगों में नहीं थे जिनका मानदंड व्यक्ति और रचना के अनुसार बार-बार बदलता रहता है। जीवन दर्शन की दृढ़ता ने उनके समस्त विचारों में एकसूत्रता दे दी थी। शुक्ल जी के अतिरिक्त उस युग में अन्य किसी समीक्षक में यह एकसूत्रता नहीं मिलती।

निराला जी के आलोचनात्मक विचारों की विशिष्ट देन काव्य-भाषा और शिल्प-रचना के क्षेत्र में है। उन्होने प्रसाद जी की तरह जमकर किसी विषय

पर दूर तक विचार नहीं किया और मूल्यांकन में भी प्रायः वे 'रुचि के राजा' रहे इसीलिये उनके यहाँ इधर-उधर केवल चमकते हुए सूत्र ही मिलते हैं। 'प्रबंध पद्म'में संकलित 'साहित्य और भाषा'निबंध में निराला जी ने बड़े ही सुन्दर ढंग से राष्ट्रभाषा,काव्यभाषा तथा जनभाषा का पारस्परिक संबंध दिखलाया है। उसमें उन्होंने बड़े मजे की बात कही है कि 'गैर लोगों को अपने में मिलाने का तरीका भाषा को आसान करना नहीं, न मधुर करना, उसमें व्यापक भावना भरना और उसी के अनुसार चलना है। 'छायावादी कवियों पर प्रायः अस्पष्टता तथा सूक्ष्मता का आरोप लगाया जाता है परंतु निराला जी के शब्दों में मूर्तिमत्ता का आग्रह देखिये। उसी पुस्तक के 'काव्य में रूप और अरूप' निबंध का आरंभ ही इस प्रकार होता है: "प्रायः सभी कलाओं के लिये मूर्ति आवश्यक है। अप्रतिहत मूर्ति प्रेम ही कला की जन्मदात्री है। जो भावना पूर्ण सर्वांगसुन्दर मूर्ति खींचने में जितना कृतिविज्ञ है, वह उतना बड़ा कलाकार है' इस उद्धरण को प्रसिद्ध रूसी विचारक बेलेंस्की के उस कथन के साथ रख कर देखना चाहिए जहाँ 'मूर्तियों में सोचने की कला' तथा 'चित्रमयी भाषा को' कविता कहा गया है। उस निबंध में निराला जी ने काव्य में 'विराट भावनाओं' तथा 'विराट चित्रों' की ओर कवियों का ध्यान आकर्षित किया है।

'प्रबन्ध-प्रतिमा' का 'मेरे गीत और कला' निबन्ध हिंदी के नाद-संगीत का सूक्ष्म विवेचन करने में अग्रणी है। अनेक उदाहरणों से निराला जी ने दिखलाया है कि हिंदी का व्यंजन-संगीत संस्कृत से मूलतः भिन्न है। इस तथ्य को उन्होंने 'श' 'ण' 'व' बनाम 'स' 'म' 'ब' प्रतीक-व्यंजनों से प्रमाणित किया है। उसी में निरालाजी ने कला सौन्दर्य की कुंजी बतलाते हुए महत्वपूर्ण सूत्र दिया है कि 'कला केवल वर्ण, शब्द, छंद, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं, किन्तु इन सभी से संबद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है।' आगे अपने गीतों की विशेषता बतलाते हुये उन्होंने गीतों की अखण्डता तथा एक सूत्रता पर बल देकर गीतों के क्षेत्रों में एक नया कदम उठाया है। निःसन्देह गीतों की कला इनके संपूर्ण रूप में है, खंड में नहीं। यह ऐसी रचना नहीं कि सूक्ति-रूप इसका एक अंश उद्धृत किया जा सके। इसी प्रकार 'कला के विरह में जोशी बंधु' निबंध लिखकर निराला जी ने समूचे प्राचीन साहित्य की आध्यात्मिक व्याख्या करने वाले असीम-अनंतवादी लोगों की अच्छी खबर ली है।

निराला जी के आलोचनात्मक प्रयत्न प्रसाद और पंतजी से इस मामले में भिन्न हैं कि उन्होंने साहित्य-विधायक सामाजिक समस्याओं की ओर विशेष ध्यान दिया। इसलिये उनकी आलोचनाओं में अक्सर अखबारी तेज़ी तथा एकान्तिकता (पोलेमिक्स) का स्वाद मिलता है।

पंतजी ने आलोचनाएँ बहुत कम लिखी हैं। उनका प्रधान समीक्षाकार्य 'पल्लव' 'आधुनिक कवि' माला सं० २ और 'उत्तरा' की भूमिकाएं हैं। इधर उन्होंने रेडियो से कई वार्ताएँ भी प्रसारित की हैं, जिनमें प्रयोगशील कविता संबंधी परिसंवाद की भूमिका तथा 'यदि मैं कामायनी लिखता' विशेष महत्वपूर्ण हैं।

'पल्लव' की भूमिका के ये कतिपय सूत्र हिन्दी समीक्षा के अमूल्य रत्न हैं—

'कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है।' 'भाव और भाषा का सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र राग है।'

'हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छंदों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की संपूर्णता प्राप्त कर सकता है।'

'कवित्त को हम संलोपोचित छंद कह सकते हैं।'

'काव्य संगीत के मूल तन्तु स्वर हैं, न कि व्यंजन!'

"ध्वनि चित्रण को छोड़कर अन्यत्र व्यंजन-संगीत भावना की अभिव्यक्ति को प्रस्फुटित करने में प्रायः गौण रूप से सहायता मात्र करता है।'

'वाणी का राग तुक की पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा परिपुष्ट होकर लययुक्त हो जाता है।'

इनके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न भावों के अनुकूल छंद-निर्देश करने में पंत जी ने अद्भुत संगीत-मर्मज्ञता का परिचय दिया है। हिन्दी-पिंगल के क्षेत्र में उनकी वह सर्वथा मौलिक देन है।

'आधुनिक कवि' संग्रह का' 'पर्यालोचन' एक छायावादी कवि के प्रगतिशील काव्य-धारा में ढलने वाली मनोदशा का सही चित्र है। उनमें आत्म-समीक्षा के साथ-साथ छायावाद के ह्रास के कारणों का वैज्ञानिक विवेचन मिलता है। इसलिए एक ओर वह निगूढ़, रहस्यात्मक, भाव प्रधान और वैयक्तिक हो गया, दूसरी ओर केवल टेकनीक और आवरण मात्र रह गया। परवर्ती छायावाद के लिये इससे अधिक उपयुक्त आलोचना और क्या हो सकती थी! उस निबंध

में प्रगतिशील विचारधारा संबंधी स्थापनाएँ प्रायः कवि की अध्यात्मवादी मान्यताओं से आक्रान्त होने के कारण उस युग के प्रगतिशील चिन्तन की सीमाएँ ही अधिक बतलाती हैं। 'उत्तरा' की भूमिका भी इसी प्रकार के अभिनिवेश से ग्रस्त है। प्रायः दार्शनिक गुत्थियों में अवैज्ञानिक तथा कुछ उलझे होने पर भी पंत जी ने काव्य-समीक्षा में बड़ी ही स्पष्ट और निर्भ्रान्त स्थापनाएँ की हैं।

प्रयोगवादी कविता वाले परिसंवाद में पंतजी ने हिन्दी के 'क्लासिकिल' तथा 'छायावादी' काव्य पर अत्यन्त संतुलित विचार दिया है। उनके अनुसार 'क्लासिकल' अथवा प्राचीन काव्य में हमें शाश्वत तथा उदात्त के प्रति गंभीर आकर्षण, चिरंतन मान्यताओं के प्रति अटल विश्वास तथा साथ ही लौकिकता के प्रति एक असंदिग्ध आग्रह मिलता है। 'उसमें एक ओर चरित्रकी महत्ता और दूसरी ओर वस्तु-जगत का स्थायित्व दृष्टि गोचर होता है', इसके विपरीत 'छायावाद में शाश्वत तथा उदात्त का स्थान वैयक्तिकता ने ग्रहण कर लिया। उसने वास्तविकता को उपेक्षा कर स्वप्न तथा आशा की सृष्टि की और कल्पना का पट बुना। प्राचीन काव्य में भाव और वस्तु जगत् में संतुलन तथा तादाम्य मिलता है; 'छायावाद ने वस्तु-जगत को अपनी भावन की तूली से रंग दिया है।' इसी तरह उन्होंने प्रयोगशील कविता की अस्थिर वास्तविकता तथा रूपवादिता को भी पहिचानने की चेष्टा की है।

पंतजी की समीक्षाओं में निरालाजी के विपरीत शुद्ध समीक्षक की सी विश्लेषण-क्षमता तथा संतुलन मिलता है। इस मामले में उनकी भाषा सभी छायावादी कवियों की आलोचनाओं से अधिक समीक्षोचित तथा कम काव्यात्मक है।

'विवेचनात्मक गद्य' में महादेवी जी के जितने निबन्ध संग्रहीत है उनका अधिकांश किसी न किसी कविता-पुस्तक की भूमिका है। कुछ निबन्धों में दार्शनिक उड़ान अधिक है। किन्तु प्रायः महादेवीजी की चिन्तन-गुरुता गहरी अनुभूति का परिणाम प्रतीत होती है। इनकी समीक्षा सभी छायावादियों से अधिक व्ययात्मक है; इसीलिए वह उतनी पैनी नहीं है, जितनी चित्रात्मक और उदाहरणोपेत। छायावाद की स्वच्छंद-भावना की पूर्व परम्परा दिखाने का जो कार्य प्रसाद जी ने आरम्भ किया था, उसे महादेवी जी ने वैदिक और पालि काव्य के उदाहरणों से और भी समृद्ध कर दिया। छायावाद की

सभी आलोचनाओं का उत्तर महादेवी जी को देना पड़ा। इसीलिए उन्होंने बड़े विस्तार से छायावाद में प्रकृति, नारी भावना, कल्पना, दुःखवाद, स्वानुभूति मयी अभिव्यक्ति, राष्ट्रीयता आदि का सोदाहरण विवेचन किया। कहना न होगा कि छायावाद सम्बन्धी भ्रमों का उच्छेद करने में महादेवी जी ने सभी छायावादी कवियों से अधिक काम किया।

इसी तरह 'गीति काव्य' शीर्षक उनका निबन्ध इस विषय पर अपने ढंग का पहला महत्त्वपूर्ण निबन्ध है। उनके द्वारा दी हुई गीत की यह परिभाषा थोड़ी सी परिभाषागत सीमाओं के बावजूद आर्ष वाक्य बन गई है—'साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुखदुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है। जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।'

'यथार्थ और आदर्श' निबन्ध में सम्पूर्ण भारतीय काव्य परम्परा में इन दोनों प्रवृत्तियों का निरूपण करते हुए महादेवी जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'जिन युगों में हमारी यथार्थ दृष्टि को स्वप्न सृष्टि से आकार मिला है। और स्वप्न दृष्टि को यथार्थ सृष्टि से सजीवता, उन्हीं युगों में हमारा सृजनात्मक विकास संभव हो सका है।' यह विशेषता आर्ष-काव्यों में ही मिलती है। महादेवी जी ने इस सूत्र के द्वारा वर्तमान युग के एकांगी यथार्थवादियों के लिए एक बहुत बड़ी चेतावनी दी है। वे कवि के आदर्श का स्रोत बतलाती हुई आगे कहती हैं: 'जीवन के प्रति स्वयं आस्थावान होने के कारण कवि का विश्वास भी एक आदर्श बनकर उपस्थित होता है। इस आदर्श की सीमा तथा असीमता बतलाते हुए उन्होंने बड़ी महत्वपूर्ण बात कही है कि अपने युग-सीमित आदर्श को स्वीकार करके भी कवि उसे विस्तृत विविधता के साथ व्यक्त करते आ रहे हैं।'

'सामयिक समस्या' निबंध प्रगतिशील आन्दोलन द्वारा उत्पन्न साहित्यिक समस्याओं का उद्घाटन करता है। प्रसंगात् मनोविश्लेषणवादियों की भी आलोचना की गई है। इस निबंध में आरंभिक प्रगतिवादी साहित्यकारों की उग्रबुद्धि को रास्ते पर लाने के लिए अनेक महत्वपूर्ण सूत्र दिये गये हैं। जैसे परम्परा पर—

'विविध युगों की कला और काव्य का जो उत्कृष्ट रूप हमें मिलता है उससे हमारा विरोध नहीं हो सकता और न होना चाहिए। विरोध हमारा उस व्यवस्था से रहेगा, जिसने इन मूल्यों को कुछ व्यक्तियों तक सीमित रखा।'

सनातन, चिरंतन, शाश्वत जैसे शब्दों का उपहास करने वालों के लिये इन शब्दों की यह व्यख्या—"सनातन से अस्तित्व मात्र का बोध होता है, है, चिरन्तन उसके बहुत काल से चले आने को सूचित करता है और शाश्वत में हमें जीवन की मूल चेतना की क्रमबद्धता का संकेत मिलता है।"

अन्त में उन्होने मध्यवर्गीय कलाकार की सामाजिक स्थिति का सहानुभूतिपूर्वक विश्लेषण करते हुए व्यापक मानवतावादी-साहित्य रचना की आवश्यकता पर बल दिया है। महादेवी जी के इन निबन्धों में प्रसंगात् अनेक महत्वपूर्ण सूत्र झलक मारते चलते है जिनका संग्रह अपने आप में बहुत बड़ा काम है।

[३]

छायावादी कवियो की इन समीक्षाओं का महत्व इस बात में है कि ये उनके साहित्य-सृजन के अनुभवों से उत्पन्न हुई हैं। इसलिये ऐसी समीक्षाएँ अधिक सृजनात्मक प्रभाव वाली होती हैं। इनका महत्व किसी विषय अथवा समस्या सम्बन्धी विवेचना की पूर्णता, व्यवस्था अथवा सांगोपांगता में नहीं बल्कि मौलिक संकेतों में है। इन समीक्षाओं ने अपने युग के साहित्य-सृजन का मार्ग ही प्रशस्त नहीं किया बल्कि अनेक आलोचकों को भी जन्म दिया। पं० नन्द दुलारे बाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र आदि समीक्षक छायावादी कवियों की समीक्षा की ही उपज हैं। इन्हीं कवियों से प्रभावित होकर हिन्दी मे ऐसी समीक्षाएँ आई जिन्हें 'प्रभाववादी' कहा गया और आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास मे जिनकी खूब खबर भी ली। लेकिन यह उसकी एक शाखा मात्र है। वस्तुतः छायावाद की मूल स्वच्छंद भावना जगत के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण था जो केवल कविता में ही नहीं बल्कि उस युग के उपन्यास, कहानी नाटक, आलोचना आदि सभी साहित्य-रूपों में अभिव्यक्त हुआ। इसीलिए छायावादी समीक्षा छायावादी सांस्कृतिक चेतना का ही एक अंग है। और छायावादी कविता से अंगांगि भाव से जुड़ी हुई है। यह विशेष दृष्टिकोण पीछे छूट सकता है लेकिन इससे प्रसूत समीक्षा ने निस्संदेह हिन्दी समीक्षा के मान निर्मित करने में महत्वपूर्ण योग दिया है। साथ ही उसने पाठकों की आलोचनात्मक रुचि को परिष्कृत किया है।

पाँचवें दशक की कविता•

बीसवीं सदी के चौथे दशक के उत्तरार्ध के साथ हिन्दी कविता ने सामाजिक यथार्थ की एक नवीन ऐतिहासिक भूमिका में प्रवेश किया। इस नवीन सामाजिक चेतना की पृष्ठभूमि में उत्तर-छायावाद के समस्त अन्तर्विरोध हैं जिनमें एक ओर वैयक्तिक निराशा, कला जगत् में पलायन तथा अध्यात्म-मोह था तो दूसरी ओर सामाजिक विषमताओं के प्रति असन्तोष, अराजकतावादी विप्लव, प्रकृति कुंज से बाहर निकल कर मानव जीवन की ओर दृष्टिपात। इस अन्तर्विरोध के मूल में छायावादी व्यक्तिवाद की पराकाष्ठा थी। जिन कवियों ने २० के आसपास सामाजिक बन्धनों के विरुद्ध व्यक्तित्व के विकास के लिये व्यक्ति-स्वातंत्र्य के गीत गाए थे, वही अब समाज से कटकर तड़प रहे थे। 'मनु' ने बड़ी पीड़ा के साथ स्वीकार किया :

> इस विजन प्रान्त में बिलख रही मेरी पुकार उत्तर न मिला
> लू-सा झुलसाता दौड़ रहा कब मुझसे कोई फूल खिला
> मैं स्वप्न देखता हूं उजड़ा कल्पना-लोक में कर निवास।

स्वप्नों का रमणीय लोक उजड़ता दीखा; आदर्शवाद टूट चला; प्रकृति के निभृत कुंज में भी मन रम न सका। इस एकाकीपन की प्रतिक्रिया पैंतीस-छत्तीस तक आते-आते न्यूनाधिक सभी रूमानी कवियों में हुई। प्रसाद जी ने इस व्यक्तिवाद को अपना ही विरोधी कहा : 'अपनी शंकाओं से व्याकुल तुम अपने ही होकर विरुद्ध... !' उनकी मानवतावादी दृष्टि ने भाँप लिया कि यह सामाजिक विषमता सहृदयता की दुश्मन है, इसलिये उन्होंने बौद्धिकता के बहाने मशीन युग के विकृत प्रभावों का विरोध किया। लेकिन आदर्शवादी दृष्टिकोण ने उस समस्या को सिर के बल देखा और मनोवैज्ञानिक निदान तथा समाधान प्रस्तुत किया। पन्त जी का व्यक्तिवाद आरम्भ से ही प्रकृति-रमण की रूमानियत के माध्यम से व्यक्त होता रहा, इसलिये इस संक्रांतियुग में भी उनमें मानवोन्मुख प्रतिक्रिया हुई। 'सुन्दर हैं विहग सुमन सुन्दर, मानव! तुम सबसे सुन्दरतम !' इसी परिवर्तन को उन दिनों लोगों ने यथार्थ की स्वीकृति मानी।

बारीकी से देखने पर ये 'मानव' और 'जीवन' शब्द भी वस्तुतः अस्पष्ट, हवाई तथा आदर्शवादी लगेंगे। पन्त जी का आरम्भिक प्रकृति-प्रेम ऊपर से देखने पर मानव-निरपेक्ष भले ही रहा हो, परन्तु वास्तव में वह रोमांटिक वैयक्तिकता की भावना से रंगा था। वस्तुतः प्रकृति संसार का ही एक अंग है और उसकी सुषमा सम्बन्धी संपूर्ण मान्यताएँ समाज की समसामयिक मायन्ताओं से संबद्ध रहती हैं। इसीलिए जब 'युगान्त' में पन्त जी प्रकृति से मानव की ओर आये तो वस्तुतः वे व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से कुछ सामूहिकता की ओर मुड़े या उसकी आकांक्षा से भर उठे। 'पल्लव' और 'ग्राम्या' के प्रकृति चित्रणों की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

निराला और महादेवो जी में यह प्रतिक्रिया अधिक वैयक्तिक स्तर पर हुई, क्योंकि आरंभ से ही इन दोनों अहंवादी प्रतिभाओं में व्यक्तित्व का उभार अधिक था। इनका 'अहं' विरोधी शक्तियों से जितना ही टकराता गया, स्वर में उतनी ही उग्रता, स्पष्टता, निराशा तथा एकाकापन घना होता गया। जिसके लिये 'दुख ही जीवन की कथा रही' उसने यदि यह अनुभव किया कि

> मैं अकेला।
> देखता हूँ, आ रही मेरे दिवस की सांध्य बेला

तो कोई आकस्मिक बात नहीं। हाँ स्वनुभूति के कारण यथार्थ की पकड़ इतनी दृढ है कि हवाई मानवप्रेम अथवा दिखावटी समाजोन्मुखता की आवश्कता नहीं। घोर वैयक्तिक होते हुए भी निराला का स्वर सर्वाधिक विद्रोही, स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष रहा है। महादेवी जी में आरंभिक भावाकुलता से भिन्न बौद्धिक अवसाद तथा उद्बोधन की भावना जाग उठी।

इस व्यक्तिवाद ने एक ओर तो अपना विरोध किया और दूसरी ओर दलित जनपर करुणा करने की प्रवृति दिखलाकर अपनी सामाजिकता का परिचय दिया। निराला और पंत दोनों ही महाकवियों ने ऊँचे से सहानुभूति बिखेरी; परन्तु निराला ने यह भी कहा—

> सहज-सहज पग धर आओ उतर
> देखें वे सभी तुम्हें पथ पर।

रूमानी कविता के व्यक्तिवाद तथा तज्जन्य असन्तोष,निराशा और नियतिवाद की स्पष्टतर और तीव्रतर अभिव्यक्ति बच्चन और नरेन्द्र ने की; क्योंकि ये इसी

संक्रान्ति-युग की उपज थे। यहाँ भी नरेन्द्र में अपेक्षाकृत निर्वैयक्तिकता अधिक थी तथा बच्चन में वैयक्तिता। 'संघर्ष से टूटा हुआ' बच्चन का कवि'अग्निपथ' पर अश्रु-स्वेद रक्त से लथपथ मनुष्य की ओर भी दृष्टि डालता है।

व्यक्तिवादी सामाजिकता का एक और रूप अराजकतावादी विप्लव के रूप में प्रकट हुआ, जिसमें 'उथलपुथल मचाने वाली तान' के कवि 'नवीन', विनाशकारी बादल' के गायक भगवती चरण वर्मा तथा 'विपथगा-क्रांति' की हुँकार भरनेवाले 'दिनकर' मुख्य हैं। यहाँ भी दलितों के प्रति कभी-कभी दूरस्थ सहानुभूति दिखाइ पड़ती है। वर्मा जी की बहुप्रशंसित प्रगतिशील रचना 'भैंसा गाड़ी' इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

इस प्रकार इस दशक के आरंभ में कवि के सामने सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रश्न अपूर्ण रूप में आ खड़ा हुआ और कवि ने व्यक्तित्व के समाजीकरण की आवश्यकता अनुभव की। रोमानी युग के बाद यह यथार्थवाद का आरम्भ था।

विषय-वस्तु के साथ-साथ रूप-तत्व में भी परिवर्तन हुआ। कल्पना-वैभव, चित्र-मोह, शब्द-मोह, पेलवता, कोरी भावुकता, स्वप्निल-कुहासा, लाक्षणिक वक्रता आदि साज-सज्जा जाती रही। तथ्यकथन, खरापन विचारगत प्रौढ़ता, सादगी और सफाई, मुक्त छंद का निर्बाध प्रवाह, भाषा में गद्यात्मक व्यवहारिकता आदि बातों का समावेश हुआ।

कहना न होगा कि कविता का यह वस्तुगत रूप-परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन के समानान्तर ही था। मध्यवर्गीय मान और मान्यताओं में संकट उपस्थित हो गया था; स्त्री-पुरुष के संबंध, मानव-प्रकृति के सम्बन्ध तथा स्वयं मानव समाज के भीतर अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध, मध्यवर्गीय ह्रास की छूत से विषाक्त हो उठे थे। आर्थिक समस्याएं सभी मान्यताओं से उभर कर स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी थीं। जागरूक जन मार्क्सवादी जीवन दर्शन के उदार मानवतावाद को नैतिक आस्था के रूप में मानने लगे थे। '४० से आरम्भ होनेवाली नई कविता में सबसे ऊँचा स्वर इसी नैतिकता का था और 'ग्राम्या' उसकी पहली पोथी बनकर सामने आई। आधुनिक हिन्दी कविता में यह यथार्थवाद की ओर पहला सजीव प्रयत्न था। एक ओर ग्राम-प्रकृति की अब तक उपेक्षित सुषमा का मुग्ध अंकन, ग्रामीणजनों के हर्ष-उल्लास परक-नृत्यों की जीवंत भावना तथा नाद-चेतना का चित्रण, ग्राम-युवती के अकृत्रिम स्वस्थ मांसल सौंदर्य की प्रशंसा तथा दूसरी ओर रूढ़ि-जर्जर गाँवों की प्रथाओं पर प्रहार—

ग्राम देवता की भर्त्सना, पतिगृह जाने वाली ग्रामवधू की नकली रुलाई का उपहास—और इन सबके ऊपर साम्राज्यवादी व्यवस्था द्वारा-ध्वस्त गाँवों की आर्थिक हीनता का मार्मिक उद्‌घाटन; ये सभी बातें कवि की जागरुक दृष्टि तथा व्यापक सहानुभूति का पता देती हैं। 'ग्राम्या' में नागरिक जीवन का भी चित्रण है और मध्यवर्गीय रोगों पर तेज रोशनी डाली गई हैं। 'आधुनिका' और 'स्वीट पी के प्रति' जैसी कविताएँ शहराती महिलाओं की कृत्रिम और रुग्ण शोभा के साथ-साथ उनके अस्वस्थ यौन-संबंधों की भी भर्त्सना करती हैं, क्योंकि उनके हृदय में 'कृत्रिम रति की आकुलता' तथा 'भाव-कल्पित मनोज' का उद्दीपन है। लेकिन नगर के मध्यवर्गीय संवेदनशील मन की वास्तविक भावतरलता को बड़ी सहानुभूति से चित्रित किया गया है। 'ग्राम्या' के 'याद', 'नक्षत्र' जैसे गीतों में भी एक नवीन ढंग की संयत वैयक्तिकता तथा यथार्थता की अभिव्यक्ति मिलती है। कुल मिलाकर ग्राम्या में एक समाज-निरपेक्ष मध्यवर्गीय व्यक्ति की तटस्थ किन्तु सहृदय दृष्टि का आभास मिलता है और कहीं कहीं तो यथार्थ की पकड़ बड़ी ही मार्मिक हो उठी है।

माली की मँड़ई से उठ, नभ के नीचे नभ की धूमाली,
मन्द पवन में तिरती, नीली रेशम की सी हल्की जाली।
बत्ती जला दुकानों में बैठे सब कस्बे के व्यापारी,
मौन मन्द आभा में हिम की ऊँघ रही लम्बी अँधियारी।
धुआँ अधिक देती है टिन की ढिबरी कम करती उजियाला,
मन से कढ़ अवसाद श्रांति, आँखों के आगे बुनती जाला।

\+ \+ \+ \+

कँप-कँप उठते लौ के सँग, कातर उरक्रन्दन मूक निराशा
क्षीण-ज्योति ने चुपके ज्यों, गोपन मन को दे दी हो भाषा।

इन पंक्तियों का भाव और रूप दोनों ही एक विलक्षण अवसाद की व्यंजना करते हैं; यथार्थ को रोमान की हल्की रंगीनी वास्तविक और मार्मिक बना देती है; छन्द में एक प्रकार की शिथिल स्वरमयता है; शब्दावली छायावादी स्वप्निल पेशलता से रिक्त सीधी सादी, नयी और गद्य के निकट की है; यहाँ भी आँखों के सामने स्वप्न की जाली बुनती है, लेकिन यह स्वप्न हीनता के प्रतीक ढिबरी की मन्द रोशनी में आकार ग्रहण करता है और जीवन की वास्तविकता के विषाद से धुमैला है।

यथार्थ की इतनी सच्ची पकड़ होते हुए भी 'ग्राम्या' के कवि की दृष्टि मूलतः आदर्शवादी है। कवि की आकांक्षा है कि धरणी जनों को हो, लेकिन वह 'भव-मानवता के लिये प्रभु—समाज की किसी अस्पष्ट आन्तरिक शक्ति के प्रतीक—के निकट प्रार्थी है।

इस सामाजिक यथार्थवाद की अभिव्यक्ति 'निराला' जी में दूसरे स्तर पर हुई। संघर्षों में अहं की पराजय ने उसके मन को अत्यन्त क्षुब्ध और विक्षिप्त कर दिया; एकाकी विद्रोह मखौल और व्यंग्य के रूप में बदल गया। निराला जी में पंत जी की अपेक्षा यथार्थ की अनुभूति अधिक निजी और तीखी रही, लेकिन संयत और व्यवस्थित कम थी। वैसे आदर्शवाद तथा अज्ञात शक्ति का भरोसा यहाँ भी उतना ही था। पंत जी जहाँ सामाजिक संघर्ष में भी तटस्थ दीखते हैं, निराला जन-जन की लगी हुई आग में 'करूँ आरती मैं जल-जलकर' की कामना करते हैं। व्यंग्य को स्पष्ट होना ही पड़ता हैं और निराला जी ने सामन्ती तथा साम्राज्यवादी मान्यताओं पर बहुत स्पष्ट प्रहार किए हैं, लेकिन आरंभ में यहाँ भी स्पष्टता न थी। 'कुकुरमुत्ता' द्वारा 'कैपिटलिष्ट गुलाब' का उग्र विरोध तथा अपनी महानता का उद्घोष करने के बाद भी उसे उपयोगितावाद का शिकार बनाया जाता है। 'नये पत्ते' की 'कुत्ता भोकने लगा'; 'महँगू' 'महँगा रहा' आदि कविताएँ निश्चय ही बहुत आगे बढ़कर किसानों और मजदूरों की विवशता तथा जागरण को स्पष्ट शब्दों में कहती हैं। गजलों में कहीं-कहीं बिलकुल सीधी चोट की गई है;

> खुला भेद विजयी कहाये हुए जो
> लहू दूसरे का पिये जा रहे हैं।

लेकिन खेद के साथ कहना पड़ता है कि जिस निराला ने कविता को 'बहु-जीवन को छबि' कहा था, उन्होंने इस युग में जीवन की विविध अर्थभूमियों, गहरी अनुभूतियों तथा मानव और प्रकृति-संबन्धी मर्म-छवियों की समृद्धि का परिचय नहीं दिया जो पंत जी को 'ग्राम्या' में कुछ हदतक प्राप्त होता है। केवल 'देवी सरस्वती' कविता इसका अपवाद है, जिसमें सांस्कृतिक इतिहास के के साथ गावों का हर्ष विषाद यथार्थ रूप में जाग उठा है। पंत जी के ग्राम-चित्रण से तुलना करते ही निराला जी के ये सूक्ष्म चित्र पर्यवेक्षण की श्रेष्ठता प्रमाणित करते हैं। परन्तु निराला की इस युग की कविताओं का रूपतत्व नवीन होते हुए भी काफी अनगढ़ है।

सामाजिक यथार्थ के इस स्तर को परम्परा को रामविलास शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन तथा त्रिलोचन ने आगे बढ़ाया। 'तार सप्तक' में प्रकाशित रामविलास शर्मा की कविताओं में निराला-पंत के अद्भुत सम्मिश्रण का विकसित रूप मिलता है। उनमें ग्रामीण मानव से अधिक प्रकृति का यथातथ्य रेखांकन है; कहीं कहीं 'सिलहार'-जैसे दीन जनों का चित्र भी है। भाषा में भदेसपन अधिक है। इन चित्रों के बीच एकाध जगह मध्यवर्गीय व्यक्ति का विषाद भी खुल पड़ता है, जैसे:

> वीते वर्षों का मैं, जिसको हैं ढँके हुए
> गाढ़े वर्षों की छायाओं का तन्तुजाल!
> \+ + +
> गरजता अनागत का अगाध फिर अंधकार

केदारनाथ ने इस यथार्थ को अधिक ओज तथा मार्मिकता दी। बुंदेल खंड की चटियल भूमि का यह कवि भाव और भाषा दोनों क्षेत्रों में ग्रामीण जनता का अधिक अपना कवि प्रतीत हुआ। इनकी 'युग की गंगा' रूढियों की चट्टानें तोड़ती हुई 'सुरसरि सम सब कहँ हित होई' का आदर्श लेकर १९४७ ई० में सामने आई। यहाँ गँवई प्रकृति भी अजीब मस्तानापन लिये आती है।

> हवा हूँ हवा मैं बसन्ती हवा हूँ।
> चढ़ी पेड़ महुआ थपाथप मचाया
> गिरी धम्म से फिर चढ़ी आम ऊपर
> उसे भी झकोरा किया कान में कू
> उतर कर भगी मैं हरे खेत पहुँची
> वहाँ गेहूँओं में लहर खूब मारी
> पहर-दोपहर क्या अनेकों प्रहर तक...

गँवई लोगों का भी चित्रण है, परन्तु यहाँ ग्राम्या को तरह कोरी सहानुभूति नहीं है। कवि रूढ़िबद्ध 'चित्रकूट के बौड़म यात्रियों' की मीठी चुटकी भी लेता है; चैतू, चन्दू, रनिया की भी दुर्बलताओं पर तेज रोशनी डालता है। उसके लिए ग्रामीण जन देवता नहीं हैं बल्कि मानव हैं और वे भी अपने सगे। इसलिए वह उनकी अंध पूजा न करके कटु आलोचना करता है। वह मजदूर की शराब-खोरी और शहरी छोकरों की आवारागर्दी की भी

भर्त्सना करता है। केदार के व्यंग्य में निराला की सी विक्षिप्तता नहीं, बल्कि कठोर सोद्देश्यता तथा संयम है। समूचे व्यंग्य को जनता की विजय का अडिग विश्वास मार्मिक मानवीयता तथा शक्ति प्रदान करता है। ऐसे स्थलों पर स्वर में अद्भुत दृढ़ता आ जाती है:

घन गरजे जन गरजे
    बन्दी सागर को लख कातर
एक रोष से
    घन गरजे जन गरजे
क्षिति की छाती को लख जर्जर
    एक शोध से
घन गरजे जन गरजे!

केदार में पुराना आदर्शवाद नहीं मिलता। कुल मिलाकर उनमें बहु जीवन की छवियाँ, अभिव्यक्ति के सीधे और व्यंग्यगर्भी विधान, चित्र विधान का लाघव तथा भावानुकूल नूतन संगीत-सृष्टि बड़े ही सहज ढङ्ग से एकत्र मिल जाती हैं।

केदार की निर्वैयक्तिकता से भिन्न प्रकार की निजी पीड़ा और कठोरता को लेकर नागार्जुन की कविताएँ आयीं। मिथिला के ठेठ गाँवों की मिट्टी से लिपटा हुआ यह 'यात्री' देश-देशांतरों के अनुभवों और दृश्यों से इतना संपृक्त हो उठा है कि सामाजिक चेतना उसकी सरस्वती में शतधा रूपायित हो उठी—कहीं व्यंग की तिक्त बौछार तो कहीं करुणा के मार्मिक उत्स; कहीं गँवई प्रकृति के यथार्थ चित्र तो कहीं शहरी ढोंग का उद्घाटन! भाषा भी तदनुरूप—कहीं प्रांजलता तो कहीं ठेठ बोल चाल। छन्द योजना की बेगवती धारा में नाटकीय विधान घटित होता चलता है। इस रूप-विधान में केदारनाथ का-सा तराश तो नहीं मिलता, लेकिन मार्मिकता अधिक मिलती है; स्पष्टता और खरापन शायद सबसे अधिक। इनकी कविताओं में ऐसी सहज आत्मीयता तथा ईमान-दारी की तड़प भरी रहती है जो रूप-विधान के सारे अनगढ़पने को ढँक कर सीधी चोट करती है।

त्रिलोचन की 'धरती' ('४५ ई०) में सामाजिक चेतना का उभार केदार और नागार्जुन का-सा तो नहीं मिलता, लेकिन परम्परा वही है जिसमें मूलतः

एक किसान कवि का हृदय बोलता है। गँवई प्रकृति का बड़ा ही स्वस्थ उभार 'धरती' में हुआ है और ग्राम जीवन के अनेक दुर्लभ चित्र दिये गये हैं।

तारकों से ज्योति चल कर भूमि तल पर
आ रही है आ रही है आ रही है

+ + + +

है अँधेरी रात कल है व्याह का दिन
दीपकों से गाँव का एकान्त अमलिन
जागती हैं नारियाँ
आज अपने गीत से वे तारकों को हैं जगातीं!

'चम्पा' 'बूआ' 'भोरई केवट' आदि सामाजिक इकाइयों के माध्यम से वास्तविकता मूर्तिमान हो उठी है। आगे चलकर ५० में उनके 'सॉनेटों' में ग्राम-जीवन का यह यथार्थ और गाढ़ा हो उठा। त्रिलोचन की 'धरती' का महत्व सबसे अधिक उसकी स्वर-विविधता तथा रूपगत समृद्धि के कारण है जो इस प्रकार के अन्य कवियों में अपेक्षाकृत कम था।

इन कवियों के निर्माण को समझने के लिये आवश्यक है कि इनके समानान्तर रचना करने वाले जन-बोलियों के कवियों से परिचित हों। इस दशक की कविता के भाव और रूप-निर्माण में जन-बोलियों के साहित्य ने बहुत बड़ा काम किया। बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस', चन्द भूषण त्रिवेदी, विसराम, रामकेर, बंशीधर शुक्ल आदि बोली के कवियों ने इस युग के शिष्ट कवियों को लोक-तत्त्व की उत्तम सामग्री दी।

सामाजिक यथार्थ का दूसरा स्तर नरेन्द्र शर्मा, दिनकर, सुमन, भवानीप्रसाद मिश्र, रांगेयराघव, गोपालसिंह नेपाली, शंकर शैलेन्द्र, आदि कवियों में अभिव्यक्त हुआ। इन कवियों ने थोड़े-बहुत अन्तर के साथ उत्साह और उद्बोधन का बढ़ा-चढ़ा रूप दिखाया। इन्होंने जीवन की मर्म-छवियों के चयन में समय न लगाकर आविष्ट भाषण सुलभ ओजपूर्ण शैली में अनेक उत्तेजक कवितायें लिखीं। इस युग में दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र', 'सामधेनी' तथा 'इतिहास के आँसू' कविता-संग्रह उपस्थित किए। 'जीवन के गान' और 'प्रलय-सृजन' के कवि 'सुमन' ने इस बीच 'आज देशकी मिट्टी बोल उठी है', 'नई आग' तथा 'जल रहे हैं दीप जलती है जवानी' जैसी बड़ी उत्साह वर्धक लोकप्रिय रचनाएँ दीं।

इन कवियों में भवानी प्रसाद मिश्र का लहजा थोड़ा भिन्न हैं; रोजमर्रा की बात चीत में बड़े ही बेतकल्लुफ़ ढंग वे व्यंग्य, विनोद, सूक्ति तथा मार्मिक कहानी कह जाते हैं। नरेन्द्र शर्मा का स्वर इस प्रकार के कवियों में सर्वाधिक कलात्मक तथा स्पष्ट रहा है। इन कवियों ने समसामामिक महत्वपूर्ण घटनाओं को भी छन्दों से बाँधकर जागरूकता का परिचय दिया। जैसे 'बंगाल का काल', आजादी, गांधी हत्याकांड, 'नौ सेना विद्रोह' आदि।

सामाजिक यथार्थ का तीसरा स्तर उन कवियों ने झनझनाया जिनके संवेदनशील मन में एक ओर मध्यवर्गीय संस्कारों की कटु अतृप्ति थी तो दूसरी ओर नवीन सामाजिक चेतना को बौद्धिक रूप से स्वीकार करके व्यावाहारिक रूप से ग्रहण करने की ललक। इस अन्तर्द्वन्द्व ने इन संवेदनशील कवियों की अभिव्यक्ति को अस्पष्ट और उलझनपूर्ण बना दिया। इन्होंने कविता के रूपविधान की ओर अधिक ध्यान दिया। इनमें अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, नेमिचन्द्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल, गजानन मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर सिंह, हरि व्यास, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय, नरेश मेहता और चन्द्र कुँवर बर्त्वाल मुख्य हैं। इन कवियों में गिरिजाकुमार, मुक्तिबोध, हरिव्यास, नरेश और बर्त्वाल में सामाजिक चेतना अपेक्षाकृत अधिक गहरी और प्रौढ़ है।

गिरजाकुमार की मानसिक पीठिका छायालोक की थी, इसलिए 'नाश और निर्माण' की कुछ कविताओं में प्रणय-संबंधी रूमानियत की काफी धूप-छाँह मिलती है। स्मृति के छिन्न अनुषंगों के सहारे उन्होंने मध्यवर्गीय केलि-विलास के नूतन यथार्थ तथा 'प्रौढ़रोमांस' प्रस्तुत किये तथा रंग रेखा के नए सौन्दर्य बोध जगाए। उनकी आरंभिक मीठी थकान, सूनापन तथा उदासी मध्यवर्गीय जीवन की गहरी वास्तविकता का प्रतीक बन कर आई जो आगे चलकर वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण के समन्वय से अधिक शक्तिशाली हो उठी। यह प्रौढ़ रोमान 'एशिया के जागरण' और 'शाम की धूप' जैसी कविताओं में प्रकट हुआ जिनमें यथार्थ रूमानियत की रंगीनी से चटक हो उठा है। नरेश ने माथुर के कल्पना--वैभव और मूर्ति-विधान को 'समय-देवता' 'और 'चीन' जैसी कविताओं में बड़ा कैनवस प्रदान करने का प्रयत्न किया। इन कविताओं ने अपनी दूरारूढ़ तथा प्रसंग-गर्भी मूर्ति-योजना के बावजूद विराट मानवता का उदात्त चित्रण किया। मुक्तिबोध की मर्मस्पर्शी निराशा क्रमशः 'जीवन की लौ' के रूपमें प्रज्वलित हुई

जिसमें मध्यवर्गीय समाज का खोखलापन उभरकर दिखाया गया। हरिव्यास के निग्रंन्थि व्यक्तित्व ने प्रकृति के अनेक मनोरम चित्र तथा क्रमिक आस्था के तेजोदृप्त गीत लिखे हैं। समीक्षकों द्वारा उपेक्षित तथा अकालही धरती से उठ जाने वाले कवि 'बल्बीर' की प्रतिभा ने अनेक जौहर दिखलाए। विषय-वैविध्य तथा रूपवैभिन्य की दृष्टि से उन्होंने अनेक सफल रचनाएँ उपस्थित की और उस रूमानी छाया की सीमा में भी अद्भुत सामाजिक चेतना का परिचय दिया।

अन्य कवियों में से नेमिचन्द्र में शैथिल्य तथा एकाकीपन का मार्मिक विषाद गहरा है। उनकी निराशा का कारण 'तिरस्कृत व्यक्तित्व''जन की कंठितधार 'तथा जीवन शक्तियों से सहयोग न कर सकने की अक्षमता है। समाज की इस शक्ति को उन्होंने अस्पष्टरूप से 'विविध गतिमय प्राणमय संचरित तत्व' नाम से ही स्मरण किया है। भारत भूषण में गत्यात्मक समाजिक चेतना है, परन्तु बौद्धिक है; उनके ग्रंथिहीन सादे मन में जहाँ स्वस्थ सौन्दर्य-दर्शन, व्यंग्य बौछार या अपनी विवश तरलता का बोध है, वहाँ वे विशेष सफल हैं। प्रभाकर माचबे की कविता में यद्यपि अनुभूति की गहराई कम मिलती है तथा रूप विधान में अनमना कौतुक है, तथापि उनके हाथ व्यंगात्मक रेखांकन तथा नुकीले सूत्रों और सूक्तियों में अधिक मँजे हैं भारती में जवानी की मिठास और रूप रस के प्रति आसक्ति है तो रघुवीर सहाय में असमय वार्धक्य का प्रतीक बौद्धिक शुष्कता और जीवन से विरक्ति। संगीतगर्भी प्रयोगों की झीनी खूबसूरती में ढकी हुई सामाजिक चेतना के कवि शमशेर ने नई कविता को संभवतः सबसे अधिक स्वर-संपन्न बनाया है; उनके चित्र-विधान में बारीकी तथा शब्दों में अत्यधिक मितव्ययिता अथच अर्थ की दुरूहता है। उन्होंने अपनी उर्दू कविताओं में अवश्य ही स्पष्ट बाँकपना भर दिया है। इन नामों के साथ इनके सधर्मा कुछ और नये नाम जुड़ते हैं जिनमें सर्वेश्वर, केदारनाथ सिंह, अजित तथा सूर्य प्रताप के नाम मुख्य हैं।

इस युग की सीमामें 'अज्ञेय' की 'इत्यलम्' के उत्तरार्द्ध तथा 'हरी घास पर क्षण भर' की कविताएँ आती हैं। 'इत्यलम्' के उत्तरार्ध की अधिकांश कविताएँ समाज-निरपेक्ष व्यक्ति-मन की ग्रंथियों और यौनवर्जनाओं का आसक्तिपूर्ण तथा उलझाव-भरा चित्र उपस्थित करती हैं। लेकिन 'हरी घास पर क्षण भर' में आते-आते वे समाजिक चेतना का महत्व समझने लगते हैं: 'अपने से बाहर आने को छोड़ नहीं आवास दूसरा'। वे अपनी 'अहं अन्तर्गुहावासी स्वरति'

आदि सीमाओं को स्वीकार करते हैं और ईमानदारी के साथ। इस ईमानदारी तथा लाचारी ने इस संग्रह की कविताओं में कुछ स्वष्टता तथा तन्मय गीतात्मकता भर दी है। इसमें सहसंवेदनजन्य अनुभूति की कोमलता प्रधान तथा बुद्धि की ललकार गौण है।

समाजिक चेतना के इस तृतीय स्वर को प्रायः प्रयोगशील कविता के नाम से अभिहित किया जा रहा है। नाम को लेकर यहाँ कोई विशेष झगड़ा नहीं, किन्तु इतना अवश्य है कि इन कवियों ने 'प्रयोग-आकांक्षा' तथा 'रूप-विधान' पर इतना अधिक बल दिया है कि उक्त कवियों की कतिपय रचनाएँ रूपवादी अथवा प्रयोगवादी हो उठी हैं। जहाँ तक विषयवस्तु का संबंध है, इन कवियों में प्रायः सबकी रचनाएं ह्रासोन्मुख मध्यवर्गीय मान्यताओं की चौहद्दी में घिरी हैं; खैरियत इतनी ही है कि इनमें से अधिकांश उस सीमा को तोड़ने के लिए आकुल हैं। ह्रासशील मान्यता की इन कविताओं का भी अपना सौन्दर्य है तथा अपनी संवेदनशीलता है; विशेषतः प्रकृति और प्रणाय-संबंधी अनुभूतियाँ अधिक मोहक और संवेद्य हैं।

इस युग में कुछ ऐसी भी कविताएँ हुई हैं जिन्हें 'नूतन रहस्यवाद' की संज्ञा दी जा सकती है। पुराने आदर्शवादी कवियों में जिन्होंने निम्न-वर्ग के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति प्रकट की थी, परन्तु उनका मूल मनोजगत व्यक्तिवादी और आदर्शवादी था। उन्होंने नये रहस्य लोक की शरण ली। श्रीसुमित्रानंदन पन्त, निराला, नरेन्द्र शर्मा, नवीन, भगवतीचरण वर्मा आदि कवियों का प्रयास इधर इसी ओर हुआ है। यह नूतन रहस्यवाद छाया वाद युग की रोमांटिक रहस्य-भावना से भिन्न है, क्योंकि इसमें उत्थानशील मध्यवर्गीय व्यक्ति की आशा-आकांक्षाओं तथा कल्पनाशीलता का वह स्वस्थ यौवन नहीं है। उस रहस्य-भावना में बारबार 'प्रभु' का आश्रय नहीं लिया जाता था। वह चेतन-सत्ता समाज की अन्तर्निहित शक्ति थी जो उस युग धर्म का संचालन कर रही थी। इस 'नूतम रहस्यवाद' में वह सामर्थ्य तो नहीं है किन्तु उदार मानवतावाद अवश्य है जो मध्यवर्गीय कुंठाग्रस्त कविताओं से श्रेयस्कर प्रतीत होता है। इस 'नूतन रहस्यवाद' में भी स्तर-भेद हैं। नवीन जी में यह सैद्धान्तिक तथा नैराश्यमूलक है; पंत जी में 'विराट मानवता' का वितान तानता है; 'निराला' की 'अर्चना' का रहस्यवाद यथार्थ की पीड़ा से सिक्त है; नरेन्द्र की रहस्य-भावना लोकाश्रयी है।

इसके अतिरिक्त बच्चन, शंभूनाथ सिंह, जानकीवल्लभ शास्त्री, हंसकुमार तिवारी आदि गीतों के राजकुमार भी रचनारत रहे। ठाकुरप्रसाद सिंह के मौलिक से प्रतीत होने वाले संथाली गीतों के अनुवाद इसी कोटि में आएंगे। इन कविताओं में मुख्यतः यथार्थ चित्रण से भिन्न भाव-कल्पित सुख-दुःख का रोमानी चित्रण मिलता है, परन्तु युग के अनुरूप कुछ-कुछ सामाजिक चेतना भी आई है।

इस प्रकार पिछले दशक में हिन्दी कविता में मुख्यतः तीन प्रवृत्तियाँ रही हैं सामाजिक यथार्थवाद, रूपवाद तथा नूतन रहस्यवाद। अनेक कवियों में एकाधिक प्रवृत्तियाँ एक-साथ मिलती हैं। कुछ ऐसे हैं जिनमें आरम्भ में एक प्रवृत्ति प्रधान थी, परन्तु धीरे-धीरे दूसरा प्रधान हो गई। विभिन्न वर्गों के संस्कारों और मान्यता वाले समाज में इस प्रकार की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का मिलना स्वाभाविक है, परन्तु यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इस दशक में सामाजिक यथार्थवाद की कविता परिस्थितियों के साथ क्रमशः प्रौढ़, मानवोचित और जीवन सौन्दर्य से परिपूर्ण होती गई। भविष्य इसी कविता के हाथ है, यह सभी अनुभव कर रहे हैं। रूपवादी कवियों ने इसे अनगढ़, कलाहीन, आक्रोशपूर्ण तथा एकांगी कहा है, लेकिन यह उनकी मध्यवर्गीय दृष्टि की सीमा का परिणाम है। इन कविताओं में अनगढ़पन हो सकता है और बहुत सम्भव है वह कवि की असावधानी अथवा शक्ति की सीमा के कारण हो, परन्तु रूपवादियों की इस समीक्षा के पीछे जो उद्देश्य है वह श्रमिक-वर्ग की मान्यताओं तथा रचनाओं के प्रति सहसंवेदनहीन है। प्रश्न यह है कि विकास के बीज किस कविता में हैं? रूपवादी रचनाओं में कुछ सफल, सुन्दर, आकर्षक और मोहक प्रतीत हो सकती हैं, लेकिन उनमें वह जीवनी शक्ति नहीं है जो बहुजन को स्पन्दित कर सके। कुछ रूपवादी कवियों ने अपना-जन-प्रेम प्रदर्शित करने लिये लोक गीतों की भी धुनें अपनाई हैं तथा कुछ ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग किया है, किन्तु वह अपनाव नहीं बल्कि चेतना को अलग करके शरीर का अपहरण है। लोक-काव्य रचने के लिये लोकगीतों की धुन तथा शब्द अपनाना ही काफी नहीं है; देखना यह है कि वे लोकगीत किस ऐतिहासिक भूमिका के हैं। लोकगीतों के भी भावरूप में विकास होता है और आज के कवि के लिये आवश्यक है कि वह अपने समसामयिक लोक-काव्य से प्रेरणा ले। लेकिन देखा तो यह जा रहा है कि शिष्ट कवि ब्याह-शादी, मेला-ठेला, झूला-चक्की, बिरहा आदि पुराने लोकगीतों को ही अपनाकर निहाल हो रहे हैं। लोक-जीवन तथा काव्य के प्रति यह रूमानी दृष्टिकोण है।

निःसंदेह सामाजिक यथार्थवाद की सच्ची कविता लोक-काव्य से ही उत्पन्न और विकसित होगी, लेकिन लोक-काव्य के रचयिताओं को इस योग्य बनाने के लिए वर्तमान मध्यवर्गीय कवि जनशिक्षार्थ काव्य की रचना करते रहेंगे। निस्संदेह इन दस वर्षों में जागरूक कवियों ने इस दिशा में यथाशक्ति परिश्रम किया है।

इस अवधि में कुछ कवियों ने कविता को समृद्ध बनाने के लिए नवीन अर्थ-व्यंजना वाले कुछ नये शब्दों का प्रयोग किया है तथा पुराने शब्दों में नई अर्थ-व्यंजना भरी है। परन्तु शब्द-भण्डार की दृष्टि से समृद्ध होती हुई भी इस प्रकार की रचनाएँ सीमित और दरिद्र हैं, क्योंकि ये प्रयोग ही सार्वजनिक मूल्यों वाले शब्दों से रिक्त हैं। दूसरे शब्दों में इनकी दरिद्रता का कारण इनके पाठकों की सीमा है।

यही दशा छन्दोविधान की बहुलता के विषय में है। नये-नये स्वरों का उपयोग करने अथवा खड़ी हिंदी की लय में अंग्रेजी ढंग का स्वरपात, बलाघात देने से ही कविता समृद्ध नहीं होती। यदि यही बात होती तो केशव की रामचंद्रिका तुलसी के 'रामचरित मानस' से बहुमान पाती। मध्यवर्गीय अन्तर्द्वन्द्व-प्रधान रूपवादी कवियों ने छंद वैविध्य का बहुत ध्यान रखा है। इस प्रयोग का भी मूल्यांकन पाठकों की सीमा के ही अनुसार होगा।

इसी प्रकार इस युग की कविता में आधुनिक अंग्रेजी वाक्य-विन्यास की की 'पैरेन्थिसिस', कोष्ठक, भावानुकूल विरामचिन्ह, ध्वनि प्रतीक-योजना, दिवास्वप्न विधान, फ्री एसोसिएशन आदि के जो प्रयोग किए गए उनका मूलांकन उस मध्यवर्गीय विषय वस्तु का ध्यान में रखकर ही किया जायगा।

इन तमाम असंगतियों के बावजूद पिछले दशक की कविता के विषय में ये तीन बातें निश्चित रूप से कही जा सकती हैं—

१—कविता में वर्ण्य विस्तार तथा अर्थभूमि का प्रसार हुआ। यदि माया कोव्सकी से शब्द लेकर कहें तो—

आज हमारे रंग की हुई कूची सड़कें
और कैनवस हुई पार्क गलियाँ चौराहे।

२—खड़ी हिन्दी में लोक-कंठ के अनुकूल ऋजुता आई। गाँवों और मजूर बस्तियों से उठी हुई ताजी कच्ची भाषा माँजा की भाँति कविता में मांज गई। भाषा में बारीकी के साथ एक नया ओज आया।

३—इस युग की कविता ने सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाने में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में यथाशक्ति अपूर्व योग दिया। इसके मानवतावाद की सीमाएँ तथा असंगतियाँ समाज की सीमाएँ तथा असंगतियाँ हैं। लेकिन कविता का प्रधान स्वर मानव-जयकी स्पष्ट दिशा का सहयात्री रहा।

इस प्रकार इन दस वर्षों की कविता हिन्दी कविता की महान मानवतावादी परम्परा को युग की आवश्यकता के अनुसार आगे बढ़ाती है।

———

प्रसाद जी की भाषा-शैली•

हिन्दी-उपन्यासों पर लिखते हुए श्री नलिन विलोचन शर्मा ने प्रसाद की भाषा को 'फीलपाँवी' कहा है। 'फीलपांवी' शब्द भाषा की अनावश्यक स्फीति और मंथर गति को सूचित करता है। मामूली सी बातों के लिए बड़े बड़े शब्दों का प्रयोग तथा एक वस्तु के लिए अनेक शब्दों का खर्च 'फीलपाँवी भाषा' का लक्षण कहा जा सकता है। नलिन जी ने यह बात प्रसाद के केवल उपन्यासों की भाषा के लिए कही है, क्योंकि प्रसंग भी उपन्यासों का ही था। लेकिन जिन लक्षणों के आधार पर उन्होंने उपन्यासों की भाषा को 'फीलपांवी' कहा है, उनका चरम रूप प्रसाद की कहानियों, नाटकों और कविताओं में मिलता है। यही नहीं यदि थोड़ी देर के लिए प्रसाद से दृष्टि हटाकर निराला पंत, महादेवी आदि की भाषा को भी देखें तो भाषा की यह स्फीति कमो-वेश सभी छायावादी कवियों के गद्य-पद्य में मिलेगी। आज का लेखक जहां 'साँझ हो गई' कह कर संतोष कर लेगा, वहीं प्रसाद की लेखनी एक जादुई दुनियाँ खड़ी कर देगी।

"नील पिंगल संध्या, प्रकृति की सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्न-लोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्यपूर्ण नील जाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अंतरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील-कमलों से भर उठी।"—आकाश दीप

आज के यथार्थवादी लेखक के लिए यह संपूर्ण चित्रकारी उपहासास्पद प्रतीत हो सकती है। वह ऐसी शब्द-योजना करना पसंद न करेगा। लेकिन मेरा कहना यह है कि यदि वह कोशिश भी करे तो ऐसी मुग्ध चित्रकारी और मोहक-शब्द-योजना वह नहीं दिखा सकता। यदि वह किसी तरह नकल करके कुछ कर भी डाले तो प्रसाद की भाषा से उसकी भाषा अधिक उपहासास्पद होगी। उसमें वह जादू, वह तन्मयता, वह सजीवता न आ पायेगी। यहां नहीं, प्रसाद के पहले के लेखक और कवि भी यह भाषा न लिख सकते थे और न लिख सके। भारतेन्दु ही नहीं आचार्य द्विवेदी भी ऐसी भाषा न लिख पाये। इससे यह मालूम होता है कि प्रसाद की जिस भाषा को नलिन जी ने 'फीलपाँवी' कहा है,

वह एक ऐतिहासिक आवश्यकता का परिणाम है। उस ऐतिहासिकता को नजर-अंदाज करने के कारण ही विद्वान आलोचक के 'दृष्टिकोण' में चूक हो गई। उनके 'रिमार्क' से प्रसाद के युग की रुचि नहीं, आज की रुचि प्रकट होती है। इसलिए जिस 'स्फीति' को उन्होंने बीमारी समझ लिया है, वस्तुतः वह 'अवयव की दृढ़ मांसपेशियां' हैं, जिनमें अपार ऊर्जस्वित वीर्य है और उनमें ऐसी 'स्फीत शिरायें' हैं जिनमें 'स्वस्थ-रक्त का संचार होता था।'

यह ऐतिहासिक आवश्यकता थी छायावाद की स्वच्छंद कल्पना।

तथ्यवादी द्विवेदी-युग की गद्य-पद्य शैली के प्रायः दो प्रकार के नमूने मिलते हैं। एक ओर है—

"अहा! ग्राम्य-जीवन भी क्या है?
क्यों न इसे सबका मन चाहे?
थोड़े में निर्वाह यहां है
ऐसी सुविधा और कहां है?"

दूसरी ओर—

सुरम्यरूपे रसराशि-रंजिते
विचित्रवर्णाभरणे कहाँ गई
अलौकिकानंद—विधायनी महा
कवीन्द्रकान्ते कविते अहो कहाँ

ये दोनो नमूने पद्य के हैं, फिर भी इन्हें तत्कालीन गद्य की भाषा का प्रतिनिधि कहा जा सकता है, क्योंकि छंद-बंधन के होते हुए भी मूलतः ये गद्य ही हैं। दूसरे की पदावली पहले की अपेक्षा संस्कृत-बहुल और समास-गर्भित है। फिर भी वाक्य-घटना और भाव-चेतना की दृष्टि से दोनों ही तथ्यवादी हैं। उदात्त नाद वाले शब्दों के बावजूद दूसरा नमूना भी केवल तथ्य-कथन ही करता है। उससे किसी अमर कल्पना-लोक का आभास नहीं मिलता। इसीलिए शब्द-चयन की दृष्टि से स्फीत होते हुए भी यह छंद भाव-चेतना की दृष्टि से कंकाल-मात्र है।

कारण साफ है। सांस्कृतिक पुनर्जागरण के कारण हिंदी आदि सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में संस्कृत के तत्सम शब्दों की बाढ़ तो आ गई लेकिन पुनर्जागरण के प्रथम चरण ने नये व्यक्ति के मन को उतना भाव-प्रवण और कल्पना-कलित नहीं बनाया था कि वे शब्द नई चेतना से संपृक्त और नई अर्थ-

वत्ता से सजीव हो उठें। इसीलिए सांस्कृतिक पुनर्जागरण के प्रथम चरण के सभी लेखकों और कवियों की भाषा में संस्कृत की तत्सम पदावली के बावजूद केवल निर्जीव तथ्य-कथन मिलता है। हिन्दी में 'प्रिय-प्रवास' के पद्य तथा चंडी-प्रसाद 'हृदयेश' की कहानियाँ इस तरह के प्रतिनिधि नमूने हैं। बंगला में वंकिमचन्द्र का संस्कृत-शार्दूल गद्य भी इसी तरह का है। तत्कालीन मराठी तो ऐसे गद्य का खजाना है।

सांस्कृतिक पुनर्जागरण का दूसरा चरण राष्ट्रीय आंदोलन की नई लहर लेकर आया। समूचे भारतीय समाज में अपूर्व आशा और आकांक्षा का संचार हुआ। कल्पना-जीवी युवकों का अभ्युदय हुआ। व्यक्तित्व में विराटता आई। व्यक्ति-मन रूढ़ियों से मुक्त हो ऊँची उड़ान भरने लगा! समाजशास्त्रीय भाषा में यह व्यक्तिवाद का उदय था। इस नये व्यक्ति की अभिव्यक्ति भी नई हो उठी। वह कुछ ऐसी भाषा बोलने लगा जो व्याकरण की दृष्टि से तो पहले की ही तरह थी, फिर भी पुराने वैयाकरणों और साहित्याचार्यों की पकड़ से बाहर हो गई। यह अस्पष्टता उन्हें छाया प्रतीत हुई, कभी-कभी उनके लिए यह रहस्य भी बन जाती है। लेकिन कवि के लिये—भावना रंग गई, भाषा भी रंग उठी।

> वह भाषा-छिपती छवि सुन्दर
> कुछ खुलती आभा में रँगकर।
> वह भाव-कुरल कुहरे-सा भर कर भाया।"

जो जगत जीर्ण अरण्य था, अब कुसुमित उपवन-सा दिखाई पड़ने लगा। तथ्य सत्य हो उठा। ठठरियों पर मांस चढ़ आया। वस्तुजगत को आत्मीयता ने रंग दिया। वस्तु के बाहरी आकार को पार करके उसके भीतर निहित चेतना से तदात्म्य स्थापित किया गया! यह वस्तुवाद के विपरीत भाववाद की स्थापना थी।

वस्तु जैसी है वैसी ही दिखने की जगह मन में उसकी जैसी मूरत है वैसी दिखाई पड़ने लगी। हर चीज भावनाओं और कल्पनाओं के प्रभामंडल से युक्त जान पड़ी। दृष्टि जाने से पहले ही कवि का मन हर चीज के चारों ओर ज्योतिर्वलय-सा छा जाने लगा।

> "केशर-रज-कण अब हैं हीरे पर्वत-चय—
> यह वही प्रकृति पर रूप अन्य

> जगमग-जगमग सब वेश वन्य
> सुरभित दिशि-दिशि, कवि हुआ धन्य मायाशय !"

जब वस्तुओं का रूप बदला तो नाम भी बदल गया। मुझे शब्दों में नई ज्योति आ गई। जहाँ वह केवल 'अर्थ-ग्रहण' कराते थे, अब 'बिंब ग्रहण' कराने लगे। भाषा की सूखी नदी उमड़ आई। कवि मुट्ठियाँ खोलकर शब्दों को लुटाने लगा। न भावो में कृपणता, न शब्दों में। सर्वत्र मुक्त-हस्त दान। अब किसी भाव या वस्तु को ठीक-ठीक नपे-तुले शब्दों में कहने की आकांक्षा नहीं रही। अब तो किसी भाव या वस्तु से सम्बद्ध मनोरम अनुषंगों और प्रसंगों के चित्रों की लड़ी ही रचने लगी। विशेषणों की बाढ़ आ गई। मुद्रा-स्फीति की तरह शब्द स्फीति के लक्षण दिखाई देने लगे। बाजार शब्दों के नोटों से पट गया।

यह दशा हिन्दी की ही नहीं हुई। बँगला, गुजराती, मराठी आदि अन्य भारतीय भाषाओं में भी यही लहर आई। यहाँ तक कि बोल-चाल की मुहावरे-दानी का नाज करने वाली उर्दू भी इससे न बच सकी। यदि रवीन्द्रनाथ नाना लाल और बाल कवि की भाषा में स्फीति आई तो इकबाल में भी उसका उभार दिखाई पड़ा। यह जरूर है कि यह असर हर साहित्य की अपनी परम्परा तथा स्वच्छन्दतावादी आँदोलन की प्रवृत्ति के अनुसार कमो-बेश रहा। बॅगला में यह असर सबसे ज्यादा रहा और उर्दू में सबसे कम। फिर भी जो लोग हिन्दी-कविता की भाषा के मुकाबले उर्दू के चलतेपन की तारीफ करते नहीं थकते, उन्हें मीर, गालिब, दाग जैसे पुराने शायरों से थोड़ी देर के लिए फुर-सत लेकर इकबाल और जोश की प्रकृति, दर्शन और रोमैंटिक प्रेम की कवि-ताओं की ओर भी मुलाहिज़ा फरमाना चाहिये। इकबाल की कविता से कुछ लाइनें नमूने के लिए दी जा रही हैं—

> "वस्तये-रंगे-ख़सूसियत न हो मेरी जबाँ
> जौए-इंसा क़ौम हो मेरी, वतन मेरा जहाँ
> दीदए'वातिन प राजे-नज्मे कुदरत हो अयाँ
> हो शनासाये फ़लक शमए-तरख़य्युल का धुआँ
> उकदए-अजदाद की काविशन न तड़पाए मुझे
> हुस्ने-इश्क-अंगेज हर शै में नज़र आए मुझे !"

कविता बेशक बहुत ऊँची है, लेकिन कहाँ है इसमें पुराने शायरों की मुहावरेदानी। इसमें शायद ही कोई शब्द हो जिसे पहले के शायरों ने इस्तेमाल

न किया हो ! लेकिन उन्हीं को मिलाकर 'वस्तये-रंग ख़ुसूसियत', 'दीदए-बातिन', 'राजे-नज्मे-कुदरत' 'शनासाये-फलक' 'शमये तखुय्यल का धुँआ,' 'उकदए-अजदाद' वगैरह इकबाल ही इस्तेमाल कर सकते थे।—एक रोमैंटिक शायर ही कर सकता है। 'रोमैंटिक' सस्ते 'रूमानी' अर्थ में नहीं, बल्कि 'स्वच्छन्द-कल्पना' के समूचे वैभव और व्यापक-जीवन-दर्शन के अर्थ में।

प्रसाद की भाषा भी इस स्वच्छन्दतावादी लहर का एक अंग है। इसलिए एक हद तक वह हिन्दी ही नहीं बल्कि समूचे भारतीय साहित्य के स्वच्छन्दतावादी दौर से जुड़ी हुई है। इसीलिए प्रसाद के पद-चयन में एक ओर बहुत दूर तक निराला, पंत और महादेवी के पद-चयन से साम्य है, तो दूसरी ओर प्रत्यक्ष रूप से रवीन्द्रनाथ के पद-चयन की झलक है और परोक्षरूप से गुजराती और मराठी के स्वच्छन्दतावादी कवियों के साथ साधर्म्य है। इसी बात को आचार्य शुक्ल ने अपने ढंग से कहा है कि संस्कृत की कोमल कांत पदावली का जैसा सुन्दर चयन वंग भाषा के काव्यों में हुआ है वैसा अन्य देशी भाषाओं के साहित्य में नहीं दिखाई पड़ता। उनके परिशीलन से पद-लालित्य की जो गूँज प्रसादजी के मन में समाई वह बराबर बनी रही।'

किन्तु यह साम्य एक हद तक ही है। प्रसाद की भाषा शैली की अपनी विशेषता है जो उसे निराला, पंत और महादेवी की भाषा से अलग करती हैं। भाव-वैशिष्ट्य से भाषा-वैशिष्ट्य स्वाभाविक है। प्रसाद जी के पद-चयन के पीछे विशेष मनोवृत्ति झलकती है। यदि हिन्दी के इन चार प्रमुख कवियों की पदावली में मोटे तौर से एक बात को लेकर भेदक-रेखा खींची जाय तो पंत में 'वायवी', निराला में 'विराट', महादेवी में 'चटकीली' और प्रसाद में 'मधुर' पदावली का बाहुल्य मिलेगा। ये चारों विशेषताएँ एक हद तक थोड़ी-बहुत सभी में हैं। जैसे, प्रसाद में 'वायवीपन' और 'विराटता' काफी है, पंत-महादेवी में भी कहीं-कहीं 'विराटता' की झलक मिल जाती है, निराला में भी 'माधुर्य' और 'वायवीपन' कम नहीं है।

'मधु' या 'मधुर' प्रसाद का तकियाकलाम-सा है। आचार्य शुक्ल ने भी इसे लक्षित किया है। उन्होंने प्रसाद जी की प्रतिभा को 'मधुमती' योंही नहीं, साकांक्ष भाव से कहा है और आगे चलकर उनकी सारी रहस्य-भावना को 'मधुचर्या' तक कह डाला है। जो हो प्रसाद जी भी बहुत कुछ उस 'मधुमती-भूमिका' वाले मण्डल के अंग थे जिसने कुछ दिनों तक 'रस सिद्धान्त' को नई

दिशा में मोड़ने का प्रयत्न किया। प्रसाद जी ने 'मधु' को आर्य अर्थ में व्यापकता के साथ स्वीकार किया था। उनके सभी कल्पना लोकों और आदर्श-चित्रों के मूल में 'मधु' की मिठास है। प्रकृति का मनोमय रूप तो 'माधव' या मधुमास में ही उन्हें दिखाई पड़ता है, उनकी 'चांदनी' पंत की तरह 'लघु परिमल के घन' या 'स्वप्निल शयन मुकुल' सी 'अनुभूतिमात्र' नहीं बल्कि मधु से पूर्ण है। जब पहले-पहले प्रिय को उन्होंने देखा तो 'मधु राका मुस्क्याती थी'। 'कामायनी' में तो 'पुटके-पुटके मधु' की छटा है। उनके राष्ट्र की कल्पना भी 'मधुमय-देश' की है।

यह आकस्मिक नहीं है और न एक शब्द को पकड़कर रामायणी कथावाचकों का-सा चमत्कार-प्रदर्शन है। 'मधु' प्रसाद के आनन्दवादी जीवन-दर्शन का अविच्छिन्न अंग है। जीवन की कटुता और छलना से बिंधे हुए भावुक हृदय के लिए 'मधु' ही स्वाभाविक है। प्रतारणा और छलना का जैसा यथार्थ चित्र और उससे उत्पन्न होने वाली व्यथा प्रसाद के साहित्य में मिलती है, वैसी किसी छायावादी कवि में नहीं। निराला में खुले संघर्षों और रूढ़ियों के प्रहारों का दर्द है, प्रसाद की तरह आत्मीयों की प्रतारणा का नहीं। यही कटुता मधुमय कल्पना और 'मधुर पदावली' की जननी है।

प्रसाद की पदावली की दूसरी विशेषता है 'इन्द्रजाल'। प्रसाद प्रायः 'इन्द्रजाल', 'जादू', 'टोना', 'कुहक' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। कविता में ही नहीं, कहानियों में भी इन शब्दों का वे निधड़क व्यवहार करते हैं। सृजन-शील कल्पना के अनेक व्यापारों में से ऐन्द्रजालिक रचना भी एक है। यह कौशल छायावादी कवियों में प्रसाद के अतिरिक्त पंत जी में सबसे अधिक है। अन्तर इतना ही है कि जादू की दुनिया और ऐन्द्रजालिक वातावरण खड़ा करने में प्रसाद अतीत के चित्रों का भी सहारा लेते हैं जब कि पंत केवल बाल-कल्पना की तरह वर्तमान पर ही ऊँची-ऊँची उड़ान भरते हैं। 'आकाशदीप' कहानी संग्रह की अधिकांश कहानियों में यह जादूगरी देखी जा सकती है। 'कामायनी' में प्रलय के बाद देव-सृष्टि की मीठी याद तथा त्रिपुर-मिलन और कैलास की अतिमानवीय चित्रकारी इसी इन्द्रजाल का नमूना है। सामंत युगीन वैभव की पुनः सृष्टि करके मायावी प्रभाव पैदा कर देना प्रसाद जी की पदावली की विशेषता है। कभी-कभी कंजर आदि जरायम पेशा जातियों की रूमानी जिन्दगी से भी प्रसाद जी यह असर पैदा कर जाते हैं।

प्रसाद का 'यह इन्द्रजाल' पंतसे इस मामले में भिन्न है कि पंत का इन्द्रजाल जहाँ अधिक वायवी, सूक्ष्म, धुँधला और अस्पष्ट है, वहाँ प्रसाद का इन्द्रजाल अधिक माँसल, पुष्ट, इन्द्रिय-ग्राह्य और ठोस है। कारण साफ है। प्रसाद की अनुभूतियाँ पंत के विपरीत प्रौढ़ मन की हैं और उनका संबंध ऐसे पुरूष से है जिसने खुलकर यौवन के उपादानों का उपभोग किया है। इसलिए प्रसाद के ऐन्द्रजालिक चित्रों में भी स्पष्टता, माँसलता और ठोसपन है। फलतः इसकी सूचक पदावली भी आई है। यदि प्रसाद में अस्पष्टता आई भी है तो चित्रों में नहीं, बल्कि यौवन की अस्पष्ट अनुभूतियों का प्रतिबिंब बनकर। वयःसंधि की श्रद्धा में लज्जा संबंधी अनुभूतियों तथा काम पीड़ित मनु की आत्म विस्मृति की पदावली ऐसी ही अस्पष्टता का सुन्दर उदाहरण है। एक नमूना—

"इन नृत्य-शिथिल निःश्वासों की कितनी है मोहमयी माया
जिनसे समीर छनता छनता बनता है प्राणों की छाया।
आकाश-रंध्र हैं पूरित से यह सृष्टि गहन-सी होती है;
आलोक सभी मूर्च्छित सोते, यह आँख थकी सी रोती है।

× × ×

श्रुतियों में चुपके-चुपके से कोई मधु धारा घोल रहा;
इस नीरवता के परदे में जैसे कोई कुछ बोल रहा।"

शब्द वही हैं जो और लोग भी इस्तेमाल करते हैं लेकिन उनका संघटन मन पर जादू-सा असर जाता है। पढ़ते-पढ़ते ही सब अनुभूति की पकड़ में आ जाता है किन्तु अर्थ बहुतों के लिए कुछ अस्पष्ट हो सकता है। प्रसाद की यह अस्पष्टता ऐसी है जिसे कहते न बने सहते ही बने, मन ही मन पीर पिरौबो करै।'

प्रसाद के शब्द कोश में सभी छायावादी कवियों की अपेक्षा आंगिक चेष्टाओं, प्रणय-लीलाओं संम्बधी पदावली अधिक मिलती है। विभ्रम, सम्भार, व्रीड़ा, अधर-दंशन, नर्ममय उपचार आदि न जाने कितने क्रिया-व्यापार उनके यहाँ शब्दों में चित्रित हो उठे हैं। नारी की विविध चेष्टाओं का सूक्ष्म अंकन करने में प्रसाद जी ने अद्भुत पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय दिया है। इसी तरह नाज और संगीत संबंधी उपादानों और पारिभाषिक शब्दों को उपमा की तरह व्यवहृत करने में भी प्रसाद जी की रुचि अधिक देखी जाती है। इस क्षेत्र में

निराला ही प्रसाद के निकट खड़े हो सकते हैं। मीड़, मूर्च्छना, विपंची आदि तो उनके यहाँ आम बात है; वहाँ पलकें भी झुकती हैं तो किसी 'जवनिका' की तरह और मनु अपने को 'अधम पात्र मय-सा विष्कंभ' अनुभव करते हैं।

प्रसङ्गगर्भत्व प्रसाद की पदावली का विशेष तत्व है। वैसे तो प्राचीन आर्ष-काव्यों में उपयुक्त शब्दों का जर्णोद्धार निराला, पंत और महादेवी ने भी किया, लेकिन प्रसाद ने सम्भवतः सबसे अधिक किया। उनके नाटकों ने सबसे अधिक। उनके नाटकों ने तो प्राचीन सामंत-युगीन सामाजिक जीवन के उपादानों का जीर्णोद्धार किया ही, उनकी कविताओं और कहानियों ने भी अनेक प्रसङ्गगर्भी शब्दों के द्वारा 'स्मृत्याभास कल्पना' को जाग्रत करने में योग दिया। उद्गीथ, सविता, क्रतु, पुष्पलावी, मङ्गलखील, भूमा, अर्चि, चषक, स्वर्णशालियों की कलमें, सौदमिनिसंधि, कादम्बिनी, दिग्दाह, शिला-संधि, वात्या, व्रज्या, वन्या, कुल्या, शैलेय, अगरु, प्रालेय, अलक, कबरी, रथनाभि, चमर, अलम्बुषा आदि अनेक शब्द विविध अनुषंगों से अनुयत हैं। यदि कहीं अकेले प्रसाद जी के ही शब्दों का एक कोश बनाया जाय तो हिन्दी शब्दकोश में उनकी अमूल्य देन का ठीक-ठीक मूल्यांकन हो सके। निराला की तरह प्रसाद जी ने नये-नये शब्द नहीं गढ़े बल्कि उन्होंने पुराने प्रचलन-सिद्ध शब्दों को गतिशीलता प्रदान की।

कुल मिलाकर प्रसाद जी की पदावली के विषय में यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि उससे हिन्दी भाषा समृद्ध हुई है। कुछ लोगों का यह अनुमान है कि वे मोहवश यों ही कुछ श्रुतिरंजक और नादानुकृत मधुर शब्दों को एकत्र कर देते थे जिससे कोई न कोई अर्थ निकल ही आता था। यह नितांत भ्रान्त है। प्रसाद जी की आरम्भिक रचनाओं में यह प्रवृत्ति थोड़ी-बहुत हो सकती है किंतु सतर्क कवि और लेखक प्रसाद में यह अंधमोह कहीं कहीं मिलता। उनके पद-चयन में क्रमिक विकास स्पष्ट रूप से लक्षित किया जा सकता है। 'बभ्रु-वाहन' और 'उर्वशी' आदि गद्य-खंडों से 'आकाशदीप' तक का विकास चंडीप्रसाद 'हृदयेश' से ठेठ छायावादी 'प्रसाद' तक का विकास है। इसके बाद 'सालवती' तक जाते-जाते भाषा की अलंकृति वास्तविकता के अधिक निकट तथा यथार्थ से धुल उठती है। विकास की यह सोपान-पंक्ति नाटक और कविता में भी देखी जा सकती है।

अलंकृति-विधान भी पदावली से ही जुड़ा हुआ है। मोटे तौर से इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि 'आँसू' तक प्रसाद पुराने ढंग के ही

अलंकारों से लदे दिखाई पड़ते हैं और आगे भी वे सभी छायावादी कवियों से अधिक परिपाटी-विहित पाये जाते है।

लेकिन पदावली तो वाक्य की एकावली की एक मनका है। इसीलिये वाक्य-विन्यास को ही भाषा की इकाई माना जाता है। शैली की विशेषता वाक्यों की भंगिमा में ही देखी जा सकती है। जैसा कि प्रसाद ने स्वयं कहा है, समीप के ही शब्द भी उस शब्द विशेष का नवीन अर्थ-द्योतन करने में सहायक होते हैं। शब्द का वास्तविक अर्थ वाक्य की गति में ध्वनित होता है।

जब प्रसाद के वाक्य-गठन पर विचार करने चलते हैं तो छायावादी कवियों के बारे में कहा हुआ यह कथन याद आता है कि वे वाक्य नहीं, शब्द लिखते थे। निःसन्देह छायावादी कवियों ने खड़ी बोली को कोमल काव्य के अनुकूल बनाने के लिए क्रिया पदों का वहिष्कार किया। पंतजी ने तो "है' को दो सींगों वाला कनकमृग घोषित करके अपनी पंचवटी के पास फटकने तक न दिया। संयुक्त क्रियाओं को रोक थाम तो और भी हुई। क्रियापदों का काम कृदन्तज-विशेषणों से लिया जाने लगा। 'है' और 'था' को वाक्य में अन्तर्भुक्त मान लेने की प्रथा-सी चला दी गई। यह कार्य सभी छायावादियों ने किया। प्रसाद लिखते हैं—

> "मधुर विश्रान्त और एकान्त—
> जगत का सुलझा हुआ रहस्य
> एक करुणामय सुन्दर मौन
> और चंचल मन का आलस्य!"

इससे खड़ी बोली की खरखराहट तो जरूर दूर हुई लेकिन उसके साथ उसकी जीवंतता भी चली गई। क्रिया-पदों के साथ उसकी क्रिया-शीलता भी जाती रही। वह बोल चाल से दूर हो गई। वह गद्य से ही नहीं, जीवन से भी दूर जा पड़ी। इस पर वैयाकरणों की कुढ़न उचित थी। कहना न होगा कि इस रोमैंटिक दौर में भी वाक्य-गठन की दृष्टि से उर्दू कविता ने बोल-चाल के गद्य का दामन न छोड़ा। सच कहें तो खड़ी बोली की कविता का भाषा की दृष्टि से स्वाभाविक विकास उर्दू शायरी में ही मिलता है।

इस निष्क्रिय वाक्य-रचना की बीमारी छुआछूत से गद्य के दायरे में भी पहुँची। वहाँ क्रिया के अभाव में कृदन्तों ने 'कादम्बरी' के वाक्य-विन्यास का

छोटा मोटा उपनिवेश बसा दिया। निराला का 'वर्तमान धर्म' निबंध ऐसी ही भाषा के कारण 'साहित्यिक सन्निपात' कहा गया। पंत के 'पल्लव' के 'प्रवेश' में भी इस शैली के काफी नमूने मिल सकते हैं। प्रसाद के 'उर्वशी', 'बभ्रु-वाहन' आदि गद्य-खंडों मे इनकी बहार है—

"यों ही पद-संचालन करते तथा चन्द्रिका में चमत्कृत चंचरीक मंजु गुंजित प्रफुल्ल पुष्पावली पर दृष्टिपात करते हुए युवक पथिक मालाकार के बताए स्थान पर सब वस्त्र और शस्त्र उतार कर सन्ध्यावन्दन के लिए सरोवर के मुख्य तीर पर गया।"

ऐसे महावाक्य उन उदाहरणों की याद दिलाते हैं जिनमें एक ही वाक्य में आठों कारकों का प्रयोग दिखाया जाता है; लेकिन यहाँ तो पूर्वकालिक, वर्तमान कृदन्त आदि न जाने कितने प्रयोगों को एक ही वाक्य में जोत दिया गया है, भले ही उसे पढ़ते-पढ़ते पाठक का दम टूट जाय। लेकिन धीरे-धीरे प्रसाद जी में संस्कृत वाक्य रचना की यह प्रवृत्ति कम हो गई। समासों में भी आरम्भिक 'कोकिल कंठ विनिर्गत काकली' क्षिप्र और छिन्न हुई। फिर भी संस्कृत वाक्यरचना का जितना प्रभाव प्रसाद पर है उतना निराला के आलोचनात्मक निबंधों को छोड़ कर और किसी छायावादी कवि-लेखक में नहीं मिलता। महादेवी की चक्करदार तथा द्राविड़ प्राणायाम वाली वाक्य रचना कुछ इससे भिन्न है। उनमें नैय्यायिकों की उस सतर्कता की झलक है जो वाक्य को जगह जगह मोड़कर स्वरक्षात्मक गुमटी बना देती है।

फिर भी अपूर्ण वाक्य लिखने की जैसी कुटेव प्रसाद जी ने दिखाई वैसी अन्यत्र दुर्लभ है, विशेषतः कविता में। उनकी प्रौढ़तम कृति 'कामायनी' में भी इसके नमूने भरे पड़े हैं। जैसे—

१ मनन करावेगा तू कितना ? उस निश्चित जाति का जीव।

२—कर रहा वंचित कहीं न त्याग तुम्हें, मन में धर सुन्दर वेश।

पहले उदाहरण में कर्त्ता क्रिया दोनों गायब और दूसरे में सहायक क्रिया ही नदारद। या तो कहीं 'हो' छूट गया है या 'तो'। 'त्याग तुम्हें कहीं वंचित न कर रहा हो' अथवा 'त्याग तुम्हें कहीं वंचित तो नहीं कर रहा है।'

अक्सर प्रसाद लम्बे वाक्य लिख जाते हैं लेकिन दो वाक्यों को जोड़ते समय पूर्वापर में काल-संबंध बैठाना भूल जाते हैं जैसे—

१—था व्यक्ति सोचता अलस में, चेतना सजग रहती दुहरी।

२—करका क्रंदन करती गिरती और कुचलना था उसका।

इसी तरह जहाँ 'हो सकता था' लिखने की जरूरत है वहाँ केवल 'हो सकता' से ही वे काम चलता करते हैं। 'था' के अर्थ में 'रहा' प्रयोग भी कामायनी में बहुत है। साधारण बोलचाल में 'हम आए रहे', 'हम गए रहे' आदि प्रयोगों की तरह वे प्रयोग भी अशुद्ध माने जायँगे। 'चल' और 'जा' दो धातुओं से संयुक्त क्रिया बनाते समय प्रसाद प्रायः 'चल जा', 'चल जाती', 'चल गई' आदि का निधड़क प्रयोग करते हैं जबकि वहाँ 'चली जा' 'चली जाती' और 'चली गई' होना चाहिए।

ऐसे ही लुंज-पुंज वाक्यों के कारण प्रसाद के काव्य में अस्पष्टता की शिकायत प्रायः सुनने में आती है। कामायनी से ही उदाहरण लें—

१—उलझन प्राणों के धागों की सुलझन का समझूँ मान तुम्हें।

२ - अवगुंठन होता आँखों का आलोक रूप बनता जितना।

३ – हो चकित निकल आई सहसा जो अपने प्राची के घर से।
उस नवल चन्द्रिका से छिले जो मानस की लहरों पर से॥

अन्वय की यह कठिनाई कभी-कभी 'दूरान्वय' के कारण भी होती है—

'उद्बुद्ध क्षितिज की श्याम *छटा* इस उदित शुक्र की छाया में;
ऊषा सा कौन रहस्य लिये *सोती* किरनों की काया में।"

'छटा' कर्त्ता की क्रिया 'सोती' कितने चक्कर के बाद मिलती है। ऐसी गड़बड़ी बहुत कुछ विराम-चिह्नों के भ्रान्त-प्रयोग के कारण भी हुई है।

'परिव्राजक की प्रजा' में अपने संस्मरणों के बीच श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने प्रसाद की भाषा के विषय में जो यह तथ्य लक्षित किया है, वह बहुत-कुछ ठीक है कि "प्रसाद जी का गद्य विशृंखल और ऊबड़खाबड़ था। उन्होंने भाषा का अभ्यास नहीं किया था, भाव के आवेग में उनके वाक्य प्रायः लुण्ड-मुण्ड शिला खण्डों की तरह लुढ़कते रहते थे।'

इतना होते हुए भी प्रसाद रुचिर गद्य के शिल्पी थे। भूसाभरी उनके यहाँ कहीं न मिलगी। सर्वत्र उनकी शैली में एक प्रकार की अभिजात गरिमा मिलती है। तनिक भी ओछापन वहाँ नहीं हैं। उनकी स्थापना में तुंगता और वैभव है तो विरोध और खण्डन भी भव्यता और ऊर्जस्विता। स्वच्छता उतनी नहीं

जितनी उज्ज्वलता है । प्रायः लोगों ने उनके 'प्रसाद' नाम का लाभ उठा कर उनकी शैली में प्रसाद गुण बतलाया है, लेकिन यह श्लिष्ट चमत्कार की अपेक्षा और कुछ नहीं है। प्रसाद की भाषा उतनी प्रसन्न और विशद नहीं है जितनी 'प्रसाद' गुण के लिये होनी चाहिए। ललित्य उनके यहाँ अवश्य है, वर्णों की भास्वरता भी हैं, पदों के अनुरणन में हल्की मिठास से भरी मंजुल गूँजती सुनाई पड़ती है। लेकिन सर्वत्र एकरस मध्ययुगीन मंथरता-सी है; क्षिप्रता बहुत कम है। उनमें निराला की भाषा शैली की तरह क्षिप्रता नहीं है; नाटक, कहानी और उपन्यास सर्वत्र पात्रों की भाषा एक सी है। हर जगह एक ही ज़बान चलती है और वह प्रसाद की है। लेकिन भाषा के इस सिक्के पर प्रसाद के अपने व्यक्तित्व की इतनी गहरी छाप है कि उसे कोई अपने नाम से चलाते हुए तुरन्त पकड़ जायगा। कुल मिलाकर प्रसाद की भाषा-शैली में रचनात्मक संभावनाएँ न्यूनतम हैं। इसीलिएवह निर्वंश गई। 'रचनात्मक संभावना' तो उस युग के एक ही साहित्यकार की भाषा में थी और वे थे प्रेमचंद।

————

कामायनी के प्रतीक•

सभी जानते हैं कि कामायनी रूपक काव्य है और मानते हैं कि उसमें जहाँ तहाँ आधुनिक समस्याओं पर भी विचार है लेकिन कामायनी के सभी रूपक आधुनिक जीवन के हैं, इससे उन्हें मतलब नहीं है।

जहाँ तक मुझे मालूम है, प्रगतिशील कवि गजानन मुक्तिबोध ने इस ढंग से सबसे पहले विचार किया है। मुक्तिबोध का 'कामायनी: कुछ नये विचार—' शीर्षक निबंध 'हंस' नवम्बर' ४५ और जनवरी, फरवरी' ४६ में क्रमशः छपा था। इस निबंध में मुक्तिबोध ने प्रमाण के साथ साबित किया है कि मनु आधुनिक मध्यवर्गीय व्यक्ति के प्रतीक हैं और श्रद्धा तथा इड़ा उसकी भावुकता तथा बुद्धिवाद का प्रतिनिधित्व करती हैं। लेकिन शाश्वतवादी आलोचकों के विचारों में इस नये विचार से कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

सवाल यह है कि कामायनी के प्रतीकों में आधुनिक जीवन सहसा क्यों नहीं दिखाई पड़ता? ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि प्रसाद जी ने उन प्रतीकों पर अपने रहस्यवादी दृष्टिकोण का झीना पर्दा डाल दिया है। प्रसाद जी स्वयं भी मनु श्रद्धा इड़ा वग़ैरह को शाश्वत भावों का प्रतीक मानते थे। समस्यायें निःसन्देह उनके सामने सामयिक थीं लेकिन उन्होंने उन्हें शाश्वत समझा क्योंकि उनके कारणों को प्रसाद जी ने देश-काल का आधार छोड़कर शुद्ध मानसिक जगत में खोजा। वहाँ जाने पर उन्हें मालूम हुआ कि सारी विषमता का कारण बुद्धिवाद है और इतिहास-प्रेमी प्रसाद जी को इस बुद्धिवाद की परम्परा वैदिक युग से दिखाई पड़ी। इसलिये उन्होंने सहज ही अपनी वर्तमान समस्या को अतीत से जोड़ दिया। इस कार्य में आदि युग की कहानी सबसे अधिक सहायक जान पड़ी क्योंकि पुरानी कहानी से सामयिक समस्या की सनातनता भी साबित की जा सकती है। इस तरह कामायनी के रूपक प्राचीन हैं, उनके भाव शाश्वत हैं और समास्याएँ आधुनिक हैं। अपनी आधुनिक समस्याओं को शाश्वत रूप देकर प्रसाद जी ने उनकी आधुनिकता पर पर्दा डाल दिया।

लेकिन आधुनिकता के प्रभाव से अपने मन को वे सर्वथा मुक्त न कर सके। नतीजा यह हुआ कि आधुनिक युग की वास्तविकता के ज़ोर से उनके रूपकों का रहस्यवादी शाश्वत पर्दा जगह जगह मसक गया। सारस्वत नगर के नव-

निर्माण में वैज्ञानिक उन्नति, प्रजातंत्र और वर्ग-विभाजन का वर्णन करते समय वे भूल गए कि प्रजापति वैवस्वत मनु के युग में यह सब नहीं था। इस प्रकार कामायनी में चित्रित आधुनिक युग की वास्तविकता उसके प्रतीकों की शाश्वतता का खंडन करती है। 'कामायनी' में रूपक का निर्वाह ठीक से नहीं हो सका है—इसकी ओर आलोचकों ने अक्सर संकेत किया है। आचार्य शुक्ल ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'उसका निर्वाह रहस्यवाद की प्रकृति के कारण नहीं होने पाया है।'

लगता है कि प्रसाद जी भी रूपक-निर्वाह की कठिनाइयों को समझते थे, इसीलिए उन्होंने रूपक का दावा नहीं किया बल्कि इतना ही कहा कि मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।'

कामायनी के लिए यह कोई नई बात नहीं है। रूपक वाले काव्यों में ऐसी कठिनाई अक्सर उपस्थित हो जाती है! जायसी के पद्मावत में भी जगह-जगह रूपक का ढाँचा ढीला हो गया है। लेकिन इस कठिनाई के मूल में केवल कवि के काव्य-कौशल की असमर्थता नहीं है। दरअसल यह अप्रस्तुत के विरुद्ध प्रस्तुत का, परोक्ष के विरुद्ध प्रत्यक्ष का, आदर्श के विरुद्ध यथार्थ का और शाश्वत के विरुद्ध सामयिक का जोर है। इस अन्तर्विरोध के दर्शन उन भक्ति काव्यों में भी होते हैं जो रूपक नहीं हैं जैसे तुलसी का मानस। वहाँ मनुष्य की दुर्बलता राम के ईश्वरत्व को जगह-जगह तोड़ देती है और तुलसी के लाख सँभालने पर भी राम की मानवीय दुर्बलता प्रकट हो ही जाती है। वास्तविकता की विजय के ऐसे स्थलों पर काव्य का सौन्दर्य निखर उठता है।

इसलिये कामायनी के वास्तविक काव्यसौन्दर्य का दर्शन करने के लिए जरूरी है कि सबसे पहले प्रतीकों पर से प्रसाद जी के शाश्वतवादी दर्शन का पर्दा हटा दिया जाय। इस तरह प्रतीकों में चित्रित आधुनिक जीवन को पहचानने में सुविधा होगी।

कामायनी के मनु, श्रद्धा, इड़ा, काम, मानव इत्यादि चरित्र तो प्रतीक हैं ही, देव सभ्यता, सारस्वत नगर, हिमालय, कैलास, प्रलय, संघर्ष इत्यादि भी प्रतीकवत् प्रयुक्त हुए हैं। इन मुख्य प्रतीकों के अतिरिक्त छोटे-छोटे दर्जनों प्रतीक हैं।

कामायनी की पृष्ठभूमि में सबसे प्रभावशाली चित्र है महाप्रलय का। संपूर्ण हिन्दी कविता में ध्वंस का ऐसा रौद्र और विशाल चित्र दुर्लभ है। पन्त जी के 'परिवर्तन' में भी काल के विनाशकारी रूप का ऐसा उदात्त चित्र नहीं आ सका है। परन्तु 'परिवर्तन' के आदि वाक्य 'कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन वह सुवर्ण का काल' से कामायनी के महाप्रलय को समझने में सहायता अवश्य मिलती है। यह आकस्मिक नहीं है कि सभी छायावादी कवियों ने किसी-न-किसी रूप में एक महान परिवर्तन, विध्वंस या विनाश का चित्रण किया है। कामायनी में देव सभ्यता का ध्वंस है तो 'परिवर्तन' में पुरातन सुवर्ण काल का। आधुनिक युग का यह महत्वपूर्ण तथ्य है। इतिहास से प्रमाणित है कि अंग्रेजों ने निर्ममता के साथ भारत की प्राचीन सभ्यता तहस-नहस कर दी। सुनहले अतीत के नष्ट होने का दुख आधुनिक भारत के प्रायः सभी सहृदय लोगों को रहा है।

परन्तु अतीत के विध्वंस का ठीक-ठीक कारण क्या है इस विषय में सबकी समझ एक सी नहीं है। पंत जी इसे काल चक्र समझते हैं। प्रसाद जी इसे प्रकृति का प्रकोप समझते हैं। कामायनी के अनुसार देव-सभ्यता ने सुख भोग और प्रभुता में अति करके प्रकृति के नियमों का उल्लंघन कर दिया था, इसलिए प्रकृति ने प्रतिक्रिया स्वरूप उसे ध्वस्त कर दिया। इस प्रकार पंत जी से एक कदम आगे बढ़कर प्रसाद जी प्राचीन सभ्यता के विनाश का कारण उसके सुख-भोग और आपसी होड़ में समझते हैं। प्रसाद जी की यह आलोचना सोलहो आने सही है। वास्तविकता को ठीक से समझने के कारण ही उन्होंने देव सभ्यता के ह्रास का अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है।

यह चित्र कामायनी के श्रेष्ठ अंशों में से एक है।

देव-सभ्यता का ध्वंस वस्तुतः हिंदू राजाओं और मुसलमान नवाबों तथा मुगल बादशाहों के विध्वंस का प्रतीक है। उनका नाश इसलिए हुआ कि वे 'अगतिमय' थे। इसीलिए अंग्रेजों ने एक-एक करके भारतीय राजाओं को तोड़ दिया और इस विध्वंस लीला का उत्कट रूप सन सत्तावन में दिखाई पड़ा। विलास की सामग्रियाँ ही नई परिस्थितियों में क्रूर बंधन हो गईं। जिन कुसुम सुरभित मणि-मालाओं को सुर बालाओं ने शृंगार के लिए धारण किया था, वे जल प्लावन के समय शृङ्खला की तरह जकड़ गईं। यदि अंग्रेज न आते तब भी

इन राजाओं का पतन होता लेकिन अंग्रेज इतिहास के शस्त्र बनकर इन पर आ पड़े। प्रसादजी ने इतिहास की इस मार को प्रकृति का प्रकोप कहा है।

जलप्रलय के बाद हिमसंसृति पर उषा का आगमन, हिम-आच्छादन का धीरे-धीरे हटना और वनस्पतियों का जगना। हिम-संसृति प्राचीन जड़ता को व्यंजित करती है तो उषा नव जागरण को। वनस्पतियाँ समाज की नई शक्तियाँ हैं जो नव जागरण का सहारा पाकर प्राचीन रूढ़ियों को तोड़कर ऊपर उठ गईं।

इस प्रतीक-माला को इलियट के 'वेस्ट लैंड' की आरंभिक पंक्तियों के आलोक में अच्छी तरह समझा जा सकता है। वहाँ आधुनिक इंगलैंड की बंजर जमीन को तोड़कर अप्रैल की गर्मी में फूल खिलते हैं तो यहाँ पुरानी हिमानी जड़ता को तोड़कर नव शरद् का विकास होता है।

इस पृष्ठभूमि पर कामायनी के मनु का उदय होता है। पृष्ठभूमि से स्पष्ट है कि मनु प्राचीन सभ्यता के ध्वंसावशेष होते हुए भी वस्तुतः आधुनिक नव जागरण के अग्रदूत हैं। मनु तो संसृति जलनिधि-तीर तरंगों से फेंक हुई एक मणि हैं। उषा के साथ आशा का संदेश मिलने पर भी मनु की चिन्ता दूर नहीं होती। अब भी मनु का मन अतीत के ध्वंस की व्यथा से व्यथित है। मनु की आरंभिक चिन्ता-मिश्रित आशा पचास-साठ साल पहले के शिक्षित युवक का सच्चा चित्र है जिसके मन में स्वर्णिम अतीत के नष्ट हो जाने की व्यथा प्रधान थी और नये युग की आशा गौण। अतीत-मोह के साथ ही मनु के मन में एकाकीपन का भी विषाद है।

> कब तक और अकेले ? कह दो।
> हे मेरे जीवन बोलो !

परन्तु जैसे-जैसे प्रलय की काली रातों का प्रभाव दूर होता जाता है और उनके बीच से राका रजनी का उदय होता है, मनु के मन को सहारा मिलता है। राका के प्रकाश से उनके हृदय का भी अंधकार दूर होता है; ऐसी ही प्राकृतिक तथा मानसिक स्थिति में श्रद्धा का आगमन होता है। मनु और श्रद्धा की बातचीत वस्तुतः घोर निराशा और आशा का अन्तर्द्वन्द्व है। अनस्तित्व और अस्तित्व, निरुद्देश्यता और जिजीविषा के संघर्ष में अस्तित्व और जिजीविषा की जीत होती है। मनु को आत्मविश्वास प्राप्त होता है और उनके सामने विजयिनी मानवता का ऊँचा आदर्श दिखाई पड़ता है।

मनु और श्रद्धा का मिलन वस्तुतः आधुनिक युवक के एकाकी और हताश मन में रागपूर्ण आत्म विश्वास का उदय है। प्रसाद जी के अनुसार श्रद्धा काम गोत्रजा है, इसलिए वह मनु के हृदय में काम-भावना उत्पन्न करती है। प्रसाद ने काम-कला को अयंत व्यापक रूप दिया है। यह वासना, प्रणय, जिजीविषा, विश्वास, लोक मंगल आदि अनेक भावनाओं का पुंज है। इस प्रकार काम वस्तुत आरंभिक रोमैंटिक-भावना का ही प्रतीक है जिसम देशप्रेम, विश्व प्रेम, प्रकृति-प्रेम, नारी-प्रेम, कल्पना की उमंग आदि विविध भावनाएँ घुली मिली थीं।

मनु और श्रद्धा का रागपूर्ण साहचर्य मनु के जीवन का ही नहीं, कायायनी काव्य का सर्वोत्तम स्थल है। श्रद्धा, काम, वासना और लज्जा कामायनी के सर्व श्रेष्ठ सर्गों मे से हैं। यह संयोग की बात नहीं है। यह आत्मविश्वास और उच्च आदश का परिणाम है।

परंतु इसी के वाद मनु और श्रद्धा के संबंधों में तनाव शुरू हो जाता है। गर्भवती श्रद्धा गृहस्थी के निर्माण में इतनी तल्लीन हो जाती है कि मनु को फिर एकाकीपन सताने लगाता है। श्रद्धा एकदम अपने में सिमट जाती हैं; अब वह कर्म क्षेत्र में मनु की सहचरी नहीं रह पाती। फलतः श्रद्धा और मनु मे विच्छेद की घड़ी आ जाती है। प्रसाद जी के अनुसार तनाव का एक कारण तो यह है कि मनु को श्रद्धा के सुख-संतोष से ईर्ष्या हो गई; दूसरा यह कि मनु में हिंसा की प्रवृत्ति बढ़ रही थी और श्रद्धा अहिंसा के पक्ष में थी।

श्रद्धा का अपने-आप में सिमट जाना वस्तुतः आरंभिक व्यापक काम-मंगल के संकीर्ण हो जाने का प्रतीक है। इसी तरह श्रद्धा की अहिंसा भी जीवदयावाद के नाम पर हृदय की दुर्बलता है। इसमें हृदय की शौर्य, रौद्र आदि अन्य अनेक वृत्तियों का निषेध है। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने जीवदयावाद का घोर विरोध किया है।

श्रद्धा और मनु का संघर्ष वस्तुतः आधुनिक युवक के मन मे अहिंसा, वन्य सरलता, संतोष और स्थिरता के विपरीत कर्म की आकांक्षा का विद्रोह है। सन् तीस के आस पास भारतीय समाज में संघर्ष की यह स्थिति उत्पन्न हो गई थी जब एक ओर गांधो जी का अहिंसावाद राष्ट्रीय प्रगति को पीछे खींच रहा था और मार्क्सवादी धारा से प्रभावित युवक संघर्ष के लिए आगे क़दम उठाना चाहते थे।

प्रसाद जी ने यहाँ अपनी सहानुभूति श्रद्धा को दी है, इसलिए गर्भवती श्रद्धा के प्राणि-प्रेम तथा अनागत के सपनों का अत्यंत सुन्दर चित्रण हुआ है। लेकिन मनु को दोषी ठहराने के लिए उन्होंने ईर्ष्या के जिस मनोवैज्ञानिक कारण की कल्पना कर ली है, वह काफी कमजोर है। इसका कारण यह नहीं है कि प्रसाद जी को मनोविज्ञान की जानकारी कम है। बात यह है कि ऐतिहासिक दृष्टि से मनु की कर्मण्यता श्रद्धा की निष्क्रिय जीवदया से ज्यादा सही है और सही चीज़ का विरोध करना कठिन है। इसलिए मनु को दोषी ठहराने की कोशिश में प्रसाद जी ने जो लँगड़ा बहाना ईर्ष्या का खोज निकाला है, वह स्वयं प्रसाद की कल्पना को ही कमज़ोर बनाता है।

'प्रारम्भिक जीवन का सुन्दर निवास' छोड़कर मनु व्यापक कर्म क्षेत्र की तलाश में निकल पड़ते हैं। वन्य जीवन की सरलता के बाद मनु को नये पथ के लिए संघर्ष करना पड़ता है और इस संघर्ष में मनु का व्यक्तित्व एक बार फिर निखरता है। मनु की इस प्रगति का प्रसादजी नेअत्यन्त ओजपूर्ण चित्रण किया है—जैसे गहन गुहा से अति अधीर झंझा प्रवाह निकला हो अथवा अस्तित्व के धनु से शून्य को चीरता हुआ लक्ष्य-भेद के लिए विषम तीर चला है या फिर यह ज्वलन शील गतिमय पतंग है! प्रसाद जी यहाँ ऊँचे आदर्शों के प्रतीक जड़ पहाड़ों पर मीन व्यंग करते हुए मनु की गतिशीलता का ज्वलंत चित्रण करते हैं।

प्रगति के इस अवसर पर मनु के मन में अनेक विरोधी भाव उठ ते हैं—एक ओर विगत जीवन की ममता पीछे खींचती है तो आगे एकाकी पन का घोर अन्धकार दिखाई पड़ता है। काम की आकाशवाणी के रूप में उनके मनमें श्रद्धा को छोड़ आने का पश्चाताप भी होता है। मनु का यह अन्तर्द्वन्द्व आरम्भिक चिन्ता से कहीं अधिक जटिल, प्रौढ़ और मार्मिक है। 'इड़ा' सर्ग की बौद्धिकता और 'चिन्ता' की भावुक निराशा तथा अतीत-मोह की तुलना से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो सकती है 'जीवन निशीथ के अंधकार' में सन तीस के बाद की मध्यवर्गीय मन स्थिति की सारी वेदना साकार हो उठी है। इस 'दुखमय जीवन का प्रकाश' भी अद्भुत विरोधाभास है।

> पावस रजनी में जुगुनू गण को दौड़ पकड़ता मैं निराश
>
> उन ज्योतिकणों का कर विनाश!

ऐसी ही मनःस्थिति में मनु की आँखों के सामने उजड़ा सूना सारस्वत नगर-प्रान्त आता है सरस्वती नदी के किनारे बैठे-बैठे मनु को सारस्वत नगर के विध्वंस की विगत स्मृति ताज़ा हो आती है। जिस प्रकार देवसभ्यता जल प्लावन से नष्ट हुई थी, उसी प्रकार सारस्वत नगर देवासुर संग्राम से नष्ट हुआ। प्रसाद के अनुसार यह देवासुर संग्राम भी एक प्रतीक है। वस्तुतः यह आत्मवादी और बुद्धिवादी विचार धारों का संघर्ष है जिनमें से एक भोगवादी है तो दूसरी दुःखवादी।

सारस्वत नगर का यह संघर्ष वस्तुतः श्रद्धा और मनु के संघर्ष का ही दूसरा पहलू है। इसीलिये सारस्वत नगर के विगत संग्राम की याद आते ही मनु को लगता है कि—

> वह पूर्व द्वन्द्व परिवर्तित हो मुझको बना रहा अधिक दीन
> सचमुच मैं हूं श्रद्धाविहीन।

अन्तर्द्वन्द्व की इसी स्थिति में मनु के सामने सारस्वत नगर की रानी इड़ा उपस्थित होती है। इड़ा मनु के मानसिक पश्चाताप को क्षण भर में दूर करती है बुद्धिविवेक से काम लेने का परामर्श देती है। दूसरे शब्दों में मनु बुद्धि विवेक के आधार पर श्रद्धा को त्यागने की पीड़ा मन से निकाल फेंकते हैं और आगे कर्म करने के लिए अग्रसर होते हैं।

ध्यान देने की बात है कि महाप्रलय के बाद मनु की चिन्ता भावुक आत्म विश्वास से दूर हुई थी लेकिन इस बार की चिन्ता बुद्धि-विवेक से शमित हुई। वह छायावाद के उदय काल की मनः स्थिति थी और यह प्रगतिवाद के उदय काल की अथवा छायावाद के अंतिम समय की है।

बुद्धि के बल से मनु ने सारस्वत नगर का पुनर्निर्माण किया; विज्ञान के द्वारा उन्होंने प्रकृति पर विजय प्राप्त की; उत्पादन के बड़े बड़े यंत्र खड़े किए; और लोक-कल्याण के लिए प्रजातंत्र की स्थापना की। इन सभी का अर्थ है औद्योगिक क्रान्ति तथा आधुनिक प्राजातंत्र की स्थापना।

पश्चात् मनु में अधिनायक शाही की भावना उत्पन्न होती है। इसका प्रारंभ इड़ा पर अधिकार जमाने की भावना से होता है। दूसरे शब्दों में यह बुद्धि पर बलात्कार है। यहाँ प्रसाद जी ने दिखाया है कि किस प्रकार प्रजातंत्र से ही फ़ासिज्म पैदा हुआ। इसकी परिणति प्रजातंत्र और फ़ासिज्म के संघर्ष

के रूप में होती है जिसे प्रसाद जी ने एक ओर मनु तथा दूसरी ओर सारी जनता, इड़ा और समस्त प्राकृतिक शक्तियों को मान कर चित्रित किया है।

सारस्वत नगर की वैज्ञानिक सभ्यता की आलोचना प्रसाद जी ने ज्ञान, इच्छा और क्रिया को अलग-अलग स्थित त्रिपुर प्रतीक से भी की है। कहने को तो ये त्रिपुर आकाश में हैं परंतु वस्तुतः इनका भी संबंध सारस्वत नगर से ही है।

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की
एक दूसरे से न मिल सकें
यह विडम्बना है जीवन की

कामायनी की इन पंक्तियों को इलियट के 'हलो मेन' कविता की निम्नलिखित पंक्तियों के साथ रखकर समझा जा सकता है—

बिट्वीन् द आइडिया
एंड द रिएलिटी
बिट्वीन् द मोशन
एंड द एक्ट
फ़ाल्स द शैडो !

परंतु प्रसाद जी का त्रिपुर-प्रतीक इलियट से कहीं अधिक चित्रात्मक और उदात्त है। जहाँ तक प्रसाद जी ने इन तीनों लोकों के अलगाव का चित्रण किया है, वहाँ तक तो यथार्थ है लेकिन ज्यों ही वे श्रद्धा की ऐन्द्रजालिक स्मिति से इन तीनों को आकाश में मिला देने का प्रयत्न करते हैं, वह कल्पना प्रतीत होती है। इसीलिए त्रिपुर का वास्तविक चित्रण जहाँ आकर्षक है, वहाँ काल्पनिक चित्रण नीरस है।

सारस्वत नगर के राजा-प्रजा संग्राम में प्रसाद जी की यथार्थ दृष्टि ने राजा के विरुद्ध प्रजा की शक्ति तथा उसके विवेक को विजयी दिखाया है। प्रसाद जी के चित्रण से साफ है कि इसमें सारा दोष मनु के अहंवाद और एकाधिकार-भावना का है, इड़ा का दोष तनिक भी नहीं है। फिर भी श्रद्धा के मुख से प्रसाद जी ने सारा दोष इड़ा को दिलवाया है। श्रद्धा के लिये यह स्वाभाविक है कि वह अपने पति को दोष देने की जगह अपनी सौत को ही

दोष दे, लेकिन कोई ज़रूरी नहीं है कि सभी लोग भावुक श्रद्धा की बात का विश्वास कर लें। यहाँ मनु और श्रद्धा की अपेक्षा इड़ा का चरित्र अधिक ऊँचा दिखाई पड़ता है।

दूसरी ओर मनु का अत्यंत लज्जाजनक रूप सामने आता है। एक तो उन्हें अपने किये का कोई पश्चाताप नहीं, दूसरे वे लौटकर श्रद्धा की शरण लेते हैं और क्षमा माँगते हैं; यही नहीं, वे इड़ा के पास से कहीं दूर भाग जाना चाहते हैं। ये तमाम बातें पराजित मध्यवर्ग के बुद्धि-विरोध और अंध श्रद्धा हैं। यूरोप और अमेरिका में आज ऐसे बहुत से लेखक और विचारक हैं जो इसाइयत की अंध श्रद्धा के विरुद्ध वैज्ञानिक बुद्धिवाद को जन्म देने के बाद अब फिर उस अंध श्रद्धा में लौट जाना चाहते हैं। हमारे यहाँ भी ऐसे लोग निकल रहे हैं।

परन्तु वास्तविकता के अन्तर्द्रष्टा प्रसाद जी ने निर्भ्रान्त रूप से यहाँ दिखलाया है कि मनु और श्रद्धा के कैलाश भाग जाने से मानव जाति का इतिहास समाप्त नहीं हो गया। जिस जनता ने प्राकृतिक शक्तियों के द्वारा अधिनायकशाही को हराया और बुद्धि का उद्धार किया उसका विकास रुक कैसे सकता है? मानव-विकास को इस तीसरी मंजिल पर मनु का पुत्र मानव आता है। जिस तरह मनु देवसभ्यता के ध्वंसावशेष थे, उसी प्रकार मानव मनु की प्रजातांत्रिक सभ्यता का अवशेष है।

ध्यान देने की बात है कि मनु के घायल होने का सारा दोष इड़ा को देते हुये भी श्रद्धा ने अपने पुत्र 'मानव' को इड़ा के ही हाथों सौंपने में कल्याण समझा। यह पूर्वग्रह के ऊपर वास्तविकता की विजय का प्रमाण है। पलायनवादी अंध श्रद्धावादी मनु के विपरीत मानव बुद्धिवादी नई पीढ़ी का प्रतीक है।

इन तमाम बातों से एक बात स्पष्ट है कि यदि वास्तविकता के साथ साहित्यकार का सम्बंध घनिष्ठ हो, तो उसकी इच्छा के बावजूद रचना में वास्तविकता का प्रभावशाली चित्रण हो जाता है। अपनी ओर से प्रसाद जी ने कैलास पर मनु की यात्रा तथा श्रद्धावाद की ही स्थापना करनी चाही है लेकिन मानवता का भविष्य इड़ा और मानव के हाथ दिखाई पड़ता है। अपनी ओर से प्रसाद जी ने शांत, स्थिर, अहिन्सावादी श्रद्धा को श्रेष्ठ बताया है लेकिन कार्यों से इड़ा अधिक प्रेरणादायिनी दिखाई देती है।

जो कार्य श्रद्धा नहीं कर सकी उसे इड़ा ने पूरा किया और आगे भी मानव के द्वारा उस कार्य को आगे बढ़ाने का व्रत लिया। इसके विपरीत श्रद्धा ने मनु को भावुक ढङ्ग से आत्मविश्वास तो दिया लेकिन स्वतन्त्र व्यक्तित्व के अभाव में वह मनु के लिये सहायक न हो सकी और अन्त में जब उसने सहायता की भी तो मनु को निष्क्रिय बनाने में।

इस प्रकार कामायनी के प्रतीकों की व्याख्या से पता चलता है कि प्रसाद जी ने इनके माध्यम से आधुनिक भारतीय जीवन की वास्तविकता चित्रित की है। जिस क्रम से वास्तविकता में परिवर्तन होता गया है, उसी क्रम से उन्होंने प्रतीकों के रूप और अर्थ में भी परिबर्तन किया है। इस दृष्टि से प्रसाद जी के प्रतीक सर्वथा नये हैं क्योंकि ये परिवर्तन शील तथा विकासशील प्रतीक हैं। जो इन प्रतीकों की गतिशीलता नहीं समझते, उन्हें कामायनी कठिन प्रतीत होती है। जो अपने जड़ विचारों के पैमाने से कामायनी को मापने की कोशिश करते हैं, उन्हें सबसे पहले अपने दिमाग में हरकत पैदा करनी चाहिए।

इसमें कोई शक नहीं कि कामायनी के प्रतीक एक हद तक छायावादी आवरण से ढँके हुए हैं लेकिन दूसरी ओर उनमें अपने युग की जीवन समस्याओं का स्पंदन भी है। प्रसाद जी ने अपने युग की वास्तविकता को इतने व्यापक सामाजिक परिवेश में तथा भावना के गहरे स्तरों के साथ चित्रित किया है कि इन प्रतीकों में युग-युग को रसमग्न और प्रेरित करने की क्षमता आ गई है। इतने विशाल आधार पर इतने चित्रात्मक ढङ्ग से आधुनिक समाज का संघर्ष किसी हिन्दी काव्य में चित्रित नहीं हुआ है, और जहाँ तक मैंने पढ़ा है अन्य भाषाओं में भी शायद ही कोई ऐसी कविता मिले। इलियट की 'वेस्टलैंड' अत्यधिक व्यंगात्मक, प्रसंगगर्भी और प्रतीकात्मक होते हुए भी मानव विकास के भविष्य की ओर इतना विवेकपूर्ण और आस्थापूर्ण संकेत नहीं करती।

पारस्परिक सापेक्षता और कथा प्रवाह में इन प्रतीकों का अध्ययन कर लेने के बाद अब इनमें से कुछ को अलग अलग कर लेना ठीक होगा।

सबसे दिलचस्प प्रतीक है सारस्वत नगर जो इलियट के 'वेस्टलैंड' की याद दिलाता है। परन्तु दोनों में भी अंतर काफी है। इलियट का 'वेस्टलैंड' यूरोप – विशेषतः इग्लैंड—के ह्रासोन्मुखी बोर्ज्वा सभ्यता का प्रतीक है जब कि प्रसाद का 'सारस्वत नगर' भारत के विकासोन्मुख राष्ट्र जागरण का प्रतीक है।

सारस्वत नगर के वर्ग-भेद, ज्ञान-इच्छा-क्रिया-भेद आदि की आलोचना करते हुए भी प्रसाद जी ने उसके वैज्ञानिक विकास, औद्योगिक उत्थान तथा लोक-संगठन की प्रशंसा की है। इसके साथ ही उन्होंने अधिनायकवाद की पराजय तथा जन शक्ति की विजय का चित्रण करके भारतीय स्वाधीनता के भावी रूप की ओर भी संकेत किया है।

कामायनी का सबसे अधिक विवाद ग्रस्त प्रतीक है इड़ा। प्रसाद जी के विशेष दृष्टिकोण के बावजूद वैज्ञानिक बुद्धि के प्रतीक इड़ा की विजय होती है। फिर भी आलोचकों ने इड़ा की उपेक्षा की है। जिन लोगों के संस्कार छायावादी भावुकता से निर्मित हैं उन्हें इड़ा की तेज़ी बर्दाश्त नहीं होती। लेकिन जैसे जैसे समाज और साहित्य की प्रगति होती जायगी, नई पीढ़ी के युवक इड़ा के महत्व को समझते जायँगे।

इड़ा के विपरीत कामायनी के प्रेमी श्रद्धा का प्रचार करते अधिक दिखाई पड़ते है और 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' वाला छंद उनकी ज़बान पर रहता है। बहुत से लोग इसीको कामायनी का संदेश भी बताते हैं। ये लोग वस्तुत. नारी-पराधीनता के प्रचारक हैं और प्रसाद जी के मोहक शब्दों की आड़ में अपने पुरुषत्व का अधिकार प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

कामायनी का सबसे विचित्र प्रतीक है काम को प्रसाद जी ने जीवन की मूल शक्ति तथा मानव सभ्यता की आदि वासना के रूप में चित्रित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि काम की इस कल्पना के मूल में फ्रायड की सेक्स सम्बन्धी मान्यता का गहरा प्रभाव है। प्रसाद जी ने रोमांटिक प्रेम-भावना को फ्रायड के सहारे एक सैद्धान्तिक रूप देने का प्रयत्न किया है।

मनु कामायनी का केन्द्रीय प्रतीक है जिसकी चिन्ता, असन्तोष, साहसिकता ज्ञान की पिपासा, प्रगति की आकांक्षा, निरन्तर कर्म की प्रवृत्ति, सौंदर्य-मुग्धता प्रेम भावना इत्यादि आधुनिक भारतीय युवक की स्वस्थ भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है। दूसरी ओर उसका एकाकीपन, अहंभाव, एकाधिकार-भाव, आदर्श लोक में पालायन इत्यादि उसकी दुर्बलताएँ हैं।

इस प्रकार प्रसाद जी ने कामायनी में आधुनिक भारतीय सभ्यता के विविध पहलुओं क सजीव चित्रण किया है। इसी माने में कामायनी भारत की आधुनिक सभ्यता का प्रतिनिधि महाकाव्य है।